इकाई-1 : राष्ट्रीय हित

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 राष्ट्रीय हित अभिप्राय

1.4 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास

1.5 राष्ट्रीय हित के प्रकार

- 1.5.1 प्रथम कोटि के हित
- 1.5.2 गौण हित
- 1.5.3 स्थायी हित
- 1.5.4 परिवर्तनशील हित
- 1.5.5 सामान्य हित
- 1.5.6 विशिष्ट हित

1.6 दीर्घकालिक व तात्कालिक राष्ट्रीय हित

1.7 राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन

1.8 राष्ट्रीय हित के केन्द्रिय तत्व

1.9 विदेश नीति और राष्ट्रीय हित

1.10 राष्ट्रीय हित की अवधरणाः आलोचनात्मक मूल्यांकन

1.11 सारांश

1.12 शब्दावली

1.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.14 संदर्भ ग्रंथ

1.15 सहायक उपयोगी पाठय सामग्री

1.16 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की व्याख्या और समीक्षा करने में यथार्थवादी विचारक राष्ट्रीय हित की अवधारणा को सबसे महत्वपूर्ण मानते है। इस अवधारणा में कुछ अस्पष्टता अवश्य है फिर भी यह अन्तरष्ट्रीय राजनीति का मूल मंत्र है। विदेश नीति के उद्देश्य के रूप में राष्ट्रीय हित राज्य के सभी निर्णयों का आधार होता है। इस सिलसिले में 19 वी सदी में ब्रिटेन के प्रसिद्ध विदेशमंत्री ''लार्ड पामर्स्टन'' की एक उकित का बारम्बार उल्लेख होता है ''किसी भी देश के शाश्वत शत्रु और शाश्वत मित्र नहीं होते सिर्फ राष्ट्र हित ही शाश्वत एवं चिर-स्थिाई होत है।'' अनेक विदवानों को मानना है कि इस कथन का महत्व तब से अब तक बरकरार है। परन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जबकि राष्ट्रीय हित के सम्बंध में कुछ मूल अवधारणात्मक प्रश्न पूछे जाते है। उदाहरण के लिए क्या राष्ट्रीय हित की कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है। क्या समय और स्थान के साथ राष्ट्रीय हित परिवर्तित होते रहते है। क्या राष्ट्रीय हित सम्बद्ध देश के लोगो के वास्तविक हितों को सदा स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है या फिर राष्ट्रीय हित किसी देश के अभिजन वर्ग के मूल्यों की अभिव्यक्ति मात्र है। इस प्रकार और भी प्रश्न हो सकते है इतिहास का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न राजनेता ने राष्ट्रीय हित के नाम पर अपनी नीतियों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है उदाहरण के लिए नैपोलियन ने रूस के विरूद्ध युद्ध में यह दावा किया कि यह फ्रांस के राष्ट्रीय हित के लिए है। इसी प्रकार का दावा उन्होंने वाटरलू के अपने अन्तिम अभियान में किया था जहाँ उनकी पराजय हुई थी। इस प्रकार हितलर ने जर्मनी के राष्ट्रीय हित की दुहाई देते हुए अपनी विस्तारवादी नीतियों और बहु-मोर्चा युद्ध को उचित ठहराया था। इस सिलसिले में ब्रिटिश विद्वान ''नेबेल मैक्सवेल'' की एक टिप्पणी भी काफी विचारोत्तेजक है उनके अनुसार ''किसी भी राज्य में राष्ट्रीय हित को तय करने वाला तत्व सत्तारूढ़ शासक और श्रेष्ठ वर्ग होता है जो अपने वर्ग हित के अनुसार राष्ट्रीय हित की परीभाषा तय करता है।'' इस सब के बाबजूद इस बारे में व्यापक सहमति देखने को मिलती है कि देश की एकता अखंडता और भौगोलिक सीमाओं की रक्षा को प्राथमिक राष्ट्रीय हित माना जाता है।

''मौरगेन्थो'' ने अपनी पुस्तक ''इन डिफेंस ऑफ नेशनल इन्ट्रेस्ट'' में लिखा है कि ''राष्ट्रीय हित को विदेश नीति की एक मात्र कसौटी समझा जाना चाहिए।'' मैरगेन्थो की दृष्टि में राष्ट्रीय हित के लिए साधन और साध्य में कोई फर्क नहीं होता। मौरगन्थो ने राष्ट्रीय हित का वर्गीकरण स्थाई अनिवार्य और प्राथमिक और गौण में किया है।

1.2 उद्देश्य

राष्ट्रीय हित का प्रमुख उद्देश्य होता है अन्तरष्ट्रीय स्तर पर सभी राष्ट्र यह चाहता है कि वह अन्तरष्ट्रीय राजनीति में अपनी शाख प्रतिष्ठा वर्चस्व स्थापित करे अपने घरेलू नीतियों बरकस विदेश नीति को प्रबलता से महत्व दे आर्थिक लाभ सैन्य लाभ प्राप्त करने के लिए यदि संभव हो तो किसी

प्रकार के गठजोर का निर्माण करने अथवा महाशक्तियों के समूह से अलभ रहते हुए गुरनिरपेक्षता की नीति को अपनाएं उदाहण स्वरूप भारत जब स्वतंत्र हुआ उस समय पूरा विश्व शीत युद्ध की दौर से गुजर रहा था। एक तफर पूँजीवादी शक्तियों के रूप में अमंरीका था वही दूसरी और साम्यवादी शक्ति के रूप में सोवियत रूस इसलिए भारत ने अपनी तात्कालिक राष्ट्रीय हित को देखते हुए गुरनिरपेक्षता की नीति को अपनाना जरूरी समझा। राष्ट्रीय हित का प्राथमिक उद्देश्य ही है देश की एकता अखंडता और भौगोलिक सीमाओं की रक्षा के साथ-साथ अपनी नीति को आगे बढ़ाना।

1.3 राष्ट्रीय हित: अभिप्राय

अन्तरष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले सभी देश अपने कार्यो का संचालन जिस नीति और सिद्धान्त के आधार पर करते है उसे ''राष्ट्रीय हित कहा जाता है। यह राष्ट्रीय हित किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला होता है। दिसम्बर 1947 में जवाहरलाल नेहरू ने लोससभा में भाषण देते हुए कहा था ''किसी भी देश की विदेश नीति का आधार उसके राष्ट्रीय हितो की सुरक्षा है। भारत की विदेश नीति का ध्येय इसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।''

राष्ट्रीय हित एक बड़ा लचीला तथा व्यापक शब्द है। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय हित उसकी आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग प्रकार का होता है। यह भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। प्रत्येक देश के आर्थिक तथा सैनिक तत्व उसकी प्राचीन परम्पराएं आचार विचार रीति रिवाज धार्मिक दार्शनिक सामाजिक विचारधाराएं और विश्वास राष्ट्रीय हित के निर्माण में भाग लेते है। इसके आधार पर प्रत्येक देश के व्यक्ति और शासक कुछ विशेष बातों को अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी समझते है और इनके आधार पर अपनी विदेश नीति का निर्माण करते है।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा बड़ी अस्पष्ट है अतः इसकी परिभाषा करना कठित है। ''रेमा आरों'' के अनुसार राष्ट्रीय हित की अवधारणा इतनी अस्पष्ट है कि यह अर्थहीन ही है या इसे अधिक से अधिक एक दिखावे की धारणा कहा जा सकता है। ''चार्ल्स लर्च'' तथा ''अब्दुल सईद'' के अनुसार ''व्यापक दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य राष्ट्र और सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते है राष्ट्रीय हित है। ''वॉन डिक'' के अनुसार राष्ट्रीय हित की परिभाषा एक-ऐसी चीज के रूप में की जा सकती है जिसकी रक्षा या उपलब्धि राज्य एक-दूसरे मुकाबले में करना चाहते है। राष्ट्रीय हित प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की अभिलाषाएं है जिसे वह अन्य राष्ट्रों के सन्दर्भ में प्राप्त करना चाहते है। अन्य राज्यों के मुकाबले में एक राज्य जो अभिलाषाएं रखता है वे मोंटे तौर से विदेश नीति के ध्येय होते है और ध्येयों को ही राष्ट्रीय हित के नाम से पुकारा जाता है। विदेश नीति के इन ध्येयों को लक्ष्य और उद्देश्य भी कहा जाता है। विदेश नीति का लक्ष्य दीर्घकालिक हित है जबकि उद्देश्य केवल तात्कालिक अल्पकालीन होते है।

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि क्या राष्ट्रीय हित विदेश नीति का उद्देश्य है अथवा मूल्य |जो विचारक राष्ट्रीय हित को उद्देश्य मानते है उनके अनुसार यह स्थायी अपरिवर्तित तथा शक्ति से जुडी हुई अवधारणा है। जो विचारक इसे मूल्यपरक अवधरणा मानते है उनके अनुसार यह शक्ति के अतिरिक्त मूल्यों से जुड़ी हुई अवधारणा है। '' पैडलफोर्ड'' और ''लिंकन'' के अनुसार '' राष्ट्रीय हित की अवधारणा समाज के मूलभूत मूल्यों से जुड़ी हुई है ये मूल्य है राष्ट्र का कल्याण अनेक राजनीतिक विश्वासों का संरक्षण राष्ट्रीय जीवन पद्धति क्षेत्रीय अखण्डता तथा सीमाओं की सुरक्षा।

कभी-कभी राष्ट्रीय हित शब्द का प्रयोग लक्ष्यों के विश्लेषण के लिए भी किया जाता है। पलतः इसके अर्थ में अस्पष्टता का बोध होता है।

''पॉल सीबरी'' ने इस अस्पष्टता को व्यक्त करते हुए बताया है कि '' राष्ट्रीय हित'' शब्दावाली का प्रयोग कम से कम तीन अर्थो में होता हैः ''प्रथम'' राष्ट्रीय हित के विचार में भविष्य में प्राप्त होने वाले ऐसे आदर्श लक्ष्य सन्निहित है जिन्हे कोई राष्ट्र आपनी विदेश नीति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है। इसे राष्ट्रहित की आदर्शपरक नागरिक धारणा के नाम से पुकारा जाता है। ''द्वितीय'' राष्ट्रीय हित का अन्य महत्वपूर्ण अर्थ वर्णनात्मक है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित का अर्थ उन लक्ष्यों से है जिन्हें कोई भी राष्ट्र निरन्तर अपने नेतृत्व के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस अर्थ में राष्ट्रीय हित कोई अध्यात्मिक बस्तु नहीं है परन्तु यथार्थपरक है। ''तृतीय'' इस अर्थ में राष्ट्रीय हित से अभिप्राय उन लक्ष्यों से है जिन्हे किसी राष्ट्र के कर्णधार स्वीकार करते हो। ''जोसेफ फ्रेकेल'' ने अपनी पुस्तक ''नेशनल इण्टरेस्ट'' में राष्ट्रीय हित की व्याख्या राष्ट्र की आकाक्षाओं विदेश नीति के क्रियात्मक व्याख्यात्मक तथा विवादों का निरूपण करने वाले तत्व के रूप में की है।''

1.4 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास

विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रहितों की प्राप्ति अथवा उनकी रक्षा करना है। ''लार्ड पामर्स्टन'' ने वर्षो पूर्व कहा था कि ''हमारे कोई शाश्वत मित्र नहीं है और ना ही हमारे कोई सदा बने रहने वाले शत्रु। केवल हमारे हित ही शाश्वत है और उन हितों का अनुसरण संवर्द्धन हमारा कर्तव्य है।

प्राचीन एवं मध्य युगों में राज्यों के हित अधिपतियों के हित से भिन्न नहीं माने जाते थे। राजा अपने व्यक्तिगत गौरव के लिए युद्ध करता था, अश्वमेध या राजसूय यज्ञ करके चक्रवर्ती बनता था राजा के गौरव में प्राजा भी गौरवान्वित होती थी। राजा पेशेवर सैनिक लेकर दिगिवजय करने निकलता था। वापस लौटने पर लूट का कुछ माल प्रजाजनों में भी वितरित कर देता था। अतः वह राजनीति सहज थी विदेश नीति मात्र युद्ध करने अथवा नहीं करने की नीति तक सीमित रहती थी।

राष्ट्र राज्यों के उदय के साथ अन्तरष्ट्रीय राजनीति इतनी सहज नहीं रह गयी। औद्योगिक क्रान्ति व्यापारिक उन्मेष वैज्ञानिक दृष्टि यातायात तथा संचार के साधनों का प्रचार इन सबके फलस्वरूप

राजनीति केवल राजाओं राजकुमारो सामन्तों सेनापतियों का ही खेल नहीं रह गयी। आधुनिक राष्ट्र राज्यों का सर्वप्रथम युरोप में उदय हुआ। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संबंध के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। तदनुसार राज्यों की विदेश नीति भी नए अयाम लेकर रूपायित हुई। अधिपतियों के व्यकितगत हितों के स्थान पर राज्यों के हित का महत्व बढ़ा। स्पेनी उत्तराधिकार अथवा आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध मात्र किन्ही राजवंशों राजकुमारो अथवा राजाओं के हित-अहित के लिए नहीं लड़े गए थे। उनके मूल में प्रकट-अप्रकट कई राष्ट्रों के हित-अहित सन्निहित थे।

1.5 राष्ट्रीय हित के प्रकार

''थाँमस राबिन्सन'' ने राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों को छः वर्गो में बाँटा है ये है।

1.5.1 प्रथम कोटि के हित

ये वे हित है जो किसी राज्य के लिए सर्वाधिक महत्व रखते है और जिनकी रक्षा के लिए राज्य बड़े से बड़ा बलिदान और त्याग करने के लिए सदा तैयार रहते है। इस प्रकार का सबसे बड़ा हित राष्ट्र की सुरक्षा है।

1.5.2 गौण हित.

ये वे हित है जो प्राथमिक हितों से कम महत्व रखते है किन्तु फिर भी राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इस वर्ग के हितों के उदाहण है विदेशों में अपने नागरिकों की सुरक्षा के तथा इस बात को सुनिश्चित बनाना कि विदेशों में अपने देश के राजदूतों की राजनयिक उन्मुकितयों की तथा नागरिकों की रक्षा की जाए।

1.5.3 स्थायी हित

ये राज्य के लगभग सदैव बने रहने वाले दीर्घकालीन लक्ष्य एवं प्रयोजन होते है। इनका एक सुन्दर उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपने उपनिवेशों तथा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिए महासमुद्रों में नौचालन की स्वतंत्रता को बनाए रखना है। भारत का इस प्रकार का प्रयोजन देश का शान्तिपूर्ण आर्थिक विकास करना है।

1.5.4 परिवर्तनशील हित

ये राष्ट्र के ऐसे हित है जिन्हे कोई राष्ट्र किसी विशेष परिस्थिति में राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझता है। ऐसे हित प्रथम एवं द्वितीय कोटि से प्रायः भिन्न होते है। ये लोकमत तथा विभिन्न व्यक्तियों के विचारों से प्रभावित होते है।

1.5.5 सामान्य हित

सामान्य हित वे परस्थितियां होती है जो उस देश को समान्य रूप से अथवा आर्थिक व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में लाभ पहुचाने वाली होती है ग्रेट ब्रिटेन के लिए युरोप में शक्ति सन्तुलन बनाए रखना इसी प्रकार का समान्य हित था।

1.5.6 विशिष्ट हित

ये सामान्य हितों से उत्पन्न होते है और उनके साथ गहरा सम्बन्ध रखते है। जैसे युरोप में शक्ति सन्तुलन को बनाए रखना ब्रिटेन का सामान्य हित था, किन्तु इस हित को बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटिश दवीप समूहों के सामने इंगलिश चैनल के उस पार बेल्जियम और हाँलेण्ड के प्रदेशों में युरोप की किसी महाशक्ति का अधिकार न हो। यदि नेपोलियन और हितलर जैसा कोई सेनापति इस प्रदेश पर अधिकार कर ले तो वह यहां से इंग्लैण्ड पर हमला करने की और उसे जीतने की योजना बना सकता था। दोनों ने ही ऐसा प्रयास किया था। अतः ब्रिटेन का सदेव यह प्रयत्न रहता है कि बेल्जियम सदैव तटस्थ बना रहे और इस पर यूरोप के किसी महाशक्ति का प्रभुत्व स्थापित न हो। इस कारण यह ब्रि्रटेन का विशिष्ट हित था।

राँबिन्सन ने उपयुक्त छः प्रकार के हितों के अतिरिक्त तीन प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय हितों का भी वर्णन किया है। इसमें ''पहला समान हित'' ''प्रामाणित हित'' है। इनका आशय ऐसे हितों से है जो दो या दो से अधिक राज्यों के लिए तुल्य रूप से लाभदायक और उपयोगी हो। जैसे अमरीका और ब्रिटेन दोनों ही यह चाह रहे थे कि युरोप पर सोविय संघ या किसी एक महाशक्ति का अधिपत्य न हो। ''दूसरे प्रकार के हित पूरक हित'' है। ये हिंत समान न होते हुए भी दो देशों में कुछ विशेष प्रश्नों पर समझोतों का आधार बन सकते है जैसे ब्रिटेन और पूर्तगाल के हित। ब्रिटेन को पूर्तगाल के साथ मैंत्री बनाए रखने में और उसे स्वतंत्र बनाए रखने में यह लाभ था कि इसके द्वारा वह स्पेन की शक्ति पर नियंत्रण रख सकता था और अन्धमहासागर में अपनी शक्ति का पूरा विस्तार कर सकता था। इसी प्रकार पूर्तगाल को भी ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाए रखने और उसकी समुद्री प्रभुता को सुस्थिर बनाने में यह बड़ा लाभ था कि वह स्पेन के सम्भावित प्रभुत्व से सुरक्षा प्राप्त कर सकता था। ''तीसरे प्रकार के हित परस्पर विरोधी हित ;ब्वदसिपबजपदह प्दजमतमेजद्ध है।'' ये प्रायः दो देशों में संघर्ष का कारण बनते है। जम्मू-कश्मीर का भारत में वैध रूप से विलय हो जाने से यह भारत का अंग है पाकिस्तान इसे अपने राज्य का अंग बनाना चाहता है। इसके लिए वह तीन बार भारत से विफल सैनिक संघर्ष भी कर चुका है। यह दोनों का परस्पर विरोधी हित है।

1.6 दीर्घकालिक व तात्कालिक राष्ट्रीय हित

बस्तुतः राष्ट्रीय हित दो प्रकार के है-मार्मिक और अमार्मिक हित अथवा दीर्घकालीन एवं तत्कालीन राष्ट्रीय हित। मार्मिक या दीर्घकालीन राष्ट्रीय हित किसी राष्ट्र के मूलभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण हित है। ये किसी राज्य के वे हित है जिन पर राज्य कोई भी रियात करने को तैयार न हो और जिनकी रक्षा के लिए वह जरूरत पड़ने पर युद्ध करने को भी तैयार हो सकता है किसी देश का मार्मिक हित इतना बुनियादी समझा जाता है कि राष्ट्रीय हित के अन्य सब पहलू इसके सामने गौण समझे जाते है। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा स्वाधीनता और अखण्डता की रक्षा आदि प्रमुख है। राज्य का मूलभूत उद्देश्य बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा प्रदान करना तथा आन्तरिक क्षेत्र में सुव्यवस्था स्थापित रखना माने गए है। राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में विदेश नीति निर्धारक पारस्परिक सुरक्षा सन्धियों में सम्मिलित होते है सम्भावित शत्रु देश के विरूद्ध सन्धि व्यवस्था गठित करते है उनकी कूटनीतिक घेराबन्दी करने के प्रयत्न करते है तथा अनेक देशों के साथ आर्थिक सांस्कृतिक व्यापारिक संबंध जोड़कर या सुदृढ़ करके उन्हे प्रभाव क्षेत्र में लाने एवं बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते है। प्रथम विश्व युद्ध काल तक गुप्त सुरक्षा सन्धियों की व्यवस्था राष्ट्रीय सुरक्षा की सर्वप्रमुख तथा मान्य उपकरण थी। ये सन्धियाँ कितनी गुप्त रखी जाती थी इसका अनुमान इसी से क्या जा सकता है कि दो दलीय सन्धि त्रिदलीय संन्धि का पता सम्बद्ध देशों के कतिपय सर्वोच्च नीति निर्धारकों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं रहता था। याल्टा शिखर सम्मेलन के कई निर्णय राष्ट्रपति ट्रूमैन को पद ग्रहण के उपरान्त ही मालूम हुए। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अमेरीका ने नाटो सेण्टो, सीटो, रायो सन्धि संगठन की स्थापना की। भारत ने गुरनिरपेक्ष होते हुए भी सोवियत संघ के साथ बीस वर्ष की (1971) मैंत्री सन्धि की थी।

जो हित मार्मिक नहीं होते वे तात्कालिक महत्व के गौण हित होते है और जिनके लिए कोई राज्य युद्ध का खतरा मोल लेना नहीं चाहता उन्हें अमार्मिक एवं अस्थायी स्वरूप के राष्ट्रीय हित कहते है ऐसे गोण हित जनता का भौतिक कल्याण प्रतिष्ठा की रक्षा विचारधारा का प्रसार व्यापार की वृद्धि संस्कृति का प्रसार आदि है।

1.7 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन

अन्तरष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के राष्ट्रीय हितों में विरोध और संघर्ष पाया जाता है। भारत और चीन भारत और पाकिस्तान, भारत और अमेरीका के राष्ट्रीय हित कई बार एक दूसरे के प्रतिकूल देखे गए है। इन देशों के विदेश नीति का उद्देश्य अपने विदेशी संबंधों का इस ढंग से संचालन करना है जिससे राष्ट्रीय हित की सिद्धि यथासम्भव अधिक से अधिक अनुकूल रूप मे होने की गारण्टी रहे।

राष्ट्रीय हितों के सिद्धि के लिए राज्य अनके प्रकार के साधन अपनाते है। ''कौटिल्य '' ने लिखा है ''दुर्बल राजाओं को समझा बुझाकर तथा यदि आवश्यक हो तो कुछ देकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए किन्तु जो राजा सबल हो उसको भेद और दण्ड द्वारा वश में करना चाहिए।

पामर और पर्किन्स के अनुसार अन्तरष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन निम्नलिखित हैः

(1) कूटनीति

(2) प्रचार और राजनीतिक युद्ध

(3) आर्थिक साधन

(4) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

(5) युद्ध

1.8 राष्ट्रीय हित के केन्द्रिय तत्व

राष्ट्रीय हित कई कारकों के प्रभाव से बदलता रहता है कभी-कभी नेतृत्व वर्ग जनता के मूल्यों में परिवर्तन होने से मार्मिक राष्ट्रीय हित की अवधारणा बदल जाती है। उदाहरणार्थ चीन के जन्मदाता डा. सुनियात सेन की यह मान्यता थी कि चीन का हित सोवित संघ के साथ मैंत्री संबंध स्थापित करने में है। परन्तु उनके उत्तराधिकारी चयांग काई शेक की मान्यता इसके ठीक विपरीत थी। टूमैन और आइजनहार्वर साम्यवादी चीन के अवरोध की नीति अपनाने मे ही अमरीका की सुरक्षा समझते थे जबकि निकसन और किसिंगर चीन के साथ देतान्त के मधुर सम्बन्धों की स्थापना में अमरीकी हितों की अभिवृद्धि समझने लगे। राष्ट्रपति बिल क्लंटन रूस में आर्थिक सुधरों की सफलता में ही अमरीकी लोकतंत्र की स्थिरता मानते थे और इसीलिए उन्होने रूस को 1.60 बिलियन डॉलर का ऋण देना स्वीकार किया।

विस्तार में राष्ट्रीय हितों में भिन्नता पायी जाती हो परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी देशों के लिए राष्ट्रीय हित के मूल तत्व एक जैसे है। सभी देश सुरक्षा चाहते है राजनीतिक स्वाधीनता और क्षेत्रीय अखण्डता बनाए रखना चाहते है। सुरक्षा के बाद सभी देश अपने लिए व्यापारिक सुविधाएं चाहते है। सुरक्षा आर्थिक समृद्धि राष्ट्रीय हित के हृदय है। इनके अतिरिक्त अन्तरष्ट्रीय शान्ति अन्तरष्ट्रीय कानून का विकास अन्तराष्ट्रीय संगठन की सफलता भी राष्ट्रीय हित हो सकते है।

1.9 विदेश नीति और राष्ट्रीय हित

राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त है। विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भिक बिन्दु राष्ट्रीय हित है। जब तकदुनियाँराजनीति दृष्टि से राज्यों में विभाजित रहेगी तब तब विश्व राजनीति में राष्ट्रीय हित मार्मिक विषय रहेगा। वास्तविक रूप से तो राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रिय राजनीति की कुंजी है। चाहे किसी राष्ट्र के कितने ही ऊँचे आदर्श हो और कितनी ही उदार

अभिलाषाएं हों वह अपनी विदेश नीति को राष्ट्रीय हित के अतिरिक्त किसी अन्य धारणा पर आधारित नहीं कर सकता। यद्यपि विल्सन जैसे आदर्शवादियों की मान्यता है कि विदेश नीति का राष्ट्रीय हित की धारणा के आधार पर निर्मित होना एक खतरनाक प्रवृत्ति है। विदेश नीति के क्षेत्र में नैतिकता और उपयोगिता ही हमारा मार्गदर्शन होना चाहिए। हमारे अपने कोई निहित स्वार्थ नहीं होने चाहिए। इसके विपरीत मॉरेन्थाऊ तथा आरनोल्ड वूल्फर्स जैस यथार्थवादियों की मान्यता है कि राष्ट्रीय हित ही विदेश नीत की आत्मा है। यह विदेश नीति का सार है, यही उसकी प्रेरणा और आधारशिला है। राष्ट्रीय हित विदेश नीति की कुण्डली है तथा सर्वश्रेष्ठ तत्वों का निचोड़ है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, ''विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा।''

विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है। सिद्धान्तवाद की दुहाई दी जाती है लेकिन व्यवहार में किया वही जाता है जो आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रीय हितों के अनुकूल हो। निष्पक्ष रूप में देखा जाए तो राष्ट्रीय हितों के अनुकूल वैदेशिक नीति का संचालन प्राचीनकाल से ही किया जाता रहा है और राष्ट्र अधिकांशतः अपने हितों की कीमत पर सिद्धान्तों की रक्षा में अडिग नहीं रहे है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण आज के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क्षितिज में आन्तरिक विरोधाभासों के फलस्वरूप अपना प्रभाव खोता जा रहा है और वह राज्य की नीतियों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की निरन्तरताओं का वर्णन करने में असफल रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो पाएंगे कि विभित्र सत्ताधारी दलों और अपने-अपने निजी अथवा सार्वजनिक दर्शनों के बावजूद ब्रिटिश, अमेरीकन, फ्रेंच और रूसी विदेश नीति में अनेक ऐसी एकताएँ विद्यमान है जो व्यक्तिगत विश्वासों अथवा सिद्धान्त का अतिक्रमण करती है। युद्धोंत्तर काल के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड की श्रमिक सरकार ने देश के सारभूत रूप में उन्हीं हितो के सरंक्षण की नीति अपनायी जिनकी सुरक्षा को टोरियों और ह्विगो ने शताब्दियों से आवश्यक माना था। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में डलेसआइजनहावर की विदेश नीति ने देश के उन्हीं केन्द्रीय लक्ष्यों पर ध्यान दिया जिन पर रूजवेल्ट और टूमैन प्रशासन ने ध्यान दिया। अमरीकी व्यावसायिक और आर्थिक हितों की रक्षा के लिए निक्सन-किसिंगर ने चीन से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। कहने का तात्पर्य है कि चाहे प्रविधियां उपाया और साधन बदल जाएं लेकिन एक देश के हित और उद्देश्य सापेक्षिक रूप में निरन्तर वने रहते है और इसलिए विदेश नीति राष्ट्रिय हितों के अनुकूल ही संचालित की जाती है, उसमें लचीलापन रहता है सिद्धान्तों का अडियलपन नहीं। जो राजमर्मज्ञ विदेश नीति का निमार्ण करते है उन्हें राष्ट्रीय हित का सर्वोपरि ध्यान रखना पड़ता है और इसलिए अपने विश्वासों, सिद्धान्तों, आदि पर उन्हें अंकुश लगाना पड़ता है। यदि राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा की जानी है तो उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी अन्तर्राष्ट्रिय भूमिका, उसके हितों, आदि का पूरा ध्यान रखना होगा और अपने सामाजिक, धार्मिक, दर्शन एवं सैद्धान्तिक विचारों को गौण मानना पड़ेगा । समय और परिस्थिति के अनुसार राष्ट्रिय हित की जो मांग है उसी के अनुरूप विदेश नीति का संचालन किया जाना होता है। इसमें भी

हितों का क्रम अथवा पदसोपान बैठाना होता है। प्राथमिक हितों की रक्षा पहले की जाती है और गौण हितों की बाद में। कुछ ऐसे हित होते है जिनकी रक्षा हर कीमत पर रनी होती है और कुछ ऐसे हित होते है। दूसरे हित ऐसे हित होते है जिनकी रक्षा कुछ विशेष परिस्थितियों मे अन्तर्गत करनी होती है जिनकी रक्षा यद्यपि वांछनीय है तथापि उनकी लगभग कभी भी रक्षा नहीं की जाती। यह विदेश नीति का कार्य है कि वह हितों के इस पदसोपान का उपयुक्त निर्धारण करे और दूसरे राष्ट्रों की विदेश नीति का मूल्यांकन करते हुए अपना मार्ग निश्चित करे। सैनिक विज्ञान और तकनीक में प्रगति, आर्थिक समृद्धि अथवा देश के विघटन आदि विभित्र तत्वों के फलस्वरूप राष्ट्रीय हितो में सामयिक परिवर्तन आते रहते हैं और तदनुरूप विदेश नीति में बदलाव आता रहता है।

यह सच है कि प्रत्येक राज्य के राष्ट्रीय हित उसकी परिस्थितियों एंव आवश्यकताओं के आधार पर बदलते रहते है, पर कम से कम तीन बातें ऐसी है जिन्हे प्रत्येक राज्य को अपनी विदेश नीति में आवश्यक रूप से स्थान देना चाहिए। वे है

(1) आत्मरक्षा ; Self-Preservation

(2) सुरक्षा ; Security

(3) लोक कल्याण Welfare of the nation

आत्मरक्षा का अर्थ है प्रत्येक राष्ट्र को अपनी प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रीय अखण्डता को बनाए रखना चाहिए। सुरक्षा से अभिप्राय है राज्य की बाहरी आक्रमण में रक्षा करना तथा लोक कल्याण से तात्पर्य है कि राज्य को अपने नागरिकों के सुख एवं समृद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संक्षेप में, राष्ट्र हितों को ध्यान में रखकर की राष्ट्र अपने लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं तथा विदेश नीति इन लक्ष्यों को प्राप्त करने का केवल साधन होती है।

1.10 राष्ट्रीय हित की अवधारणा:आलोचनात्मक मूल्यांकन (Concept Of National Interest: Critical Appraisal)

आदर्शवादियों की मान्यता है कि 'राष्ट्रीय हितों का सम्प्रत्यय एक खतरनाक धारणा है। यदि एक राष्ट्र अपने न्यस्त स्वार्थो या हितों को ही प्राथमिकता देता है तो अन्य राष्ट्रों के हितों की उपेक्षा होती है। आजदुनियाँके राज्य एक-दूसरे पर अन्तः-निर्भर है और यदि अपने हितों को सर्वोच्चता प्रदान करते है तो विश्वशान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि सम्प्रत्यय कोरी कल्पना बनकर ही रह जाएगी।

प्रो. रेनोल्ड्स राष्ट्रीय हित दृष्टिकोण के कट्टर आलोचक है। वे कहते है कि किसी देश की विदेश नीति उस दशा में एकमात्र राष्ट्रीत हित पर आधारित होना सम्भव है जब विभित्र देशों के हित एक जैसे हों,

किन्तु ये एक जैसे नहीं है। यदि प्रत्येक देश अपने-अपने हितों को ही सर्वोपरि समझते हुए विदेश नीति का संचालन करे तो उसमें सदैव संघर्ष बना रहना चाहिए, किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। अतः विदेश नीति केवल राष्ट्रीय हित पर आधारित नहीं है यह एक भ्रान्ति है, जिसे राजनीतिज्ञ अपने वैयतिक्त स्वार्थो की सिद्धि के लिए उत्पन करते हैं |ये नेता जब आन्तरिक उसन्तोष, कुशासन तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण जनता को क्षुब्ध तथा रूष्ट देखते है तो उन्हे यह आशंका होती है कि जनता इस दुरावस्था के लिए उन्हें उत्तरदायी समझेगी और उनकी विरोधी बन जाएगी उन्हें वोट नहीं देगी। वे आपसी स्थिति सृदृढ़ बनाने के लिए और जनता को बहकाने के लिए उसका ध्यान विरोधी देशों की ओर मोड़ देते है। उदाहरणार्थ, इण्डोनेशिया में जब आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से जनता परेशान हुई तो राष्ट्रपति सुकर्ण ने उसका ध्यान बांटने के लिए मलेशिया से टकाराव की नीति को अपनाया, राष्ट्रीय हित एवं सम्मान की रक्षा के लिए इस नीति का समर्थन किया।

प्रो. रेनाल्ड्स ने राष्ट्रीय हित के विचार की इसलिए भी आलोचना की है कि इसमें प्रायः व्यक्ति के हितों की उपेक्षा की जाती है और राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं और सीमाओं को भुला दिया जाता है। मॉरगेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित की मर्यादाओं की विवेचना करते हुए कहा है। कि कई बार अधोराष्ट्रीय (Subnational) इतर्राष्ट्रीय (Othernational) और अधिराष्ट्रीय (Supranational) हित राष्ट्रीय हितों पर हावी हो जाते है और इन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते है। अधोराष्ट्रीय हितों सें अभिप्राय किसी देश के अल्पंसख्यक, आर्थिक और ऐसे जातीय समूह (ethnical groups) है जो अपने विशिष्ट वर्ग के हितो को राष्ट्रीय हितों का रूप प्रदान करते है। किसी देश में यदि पूंजीपति वर्ग प्रभावशाली है तो वह अपने धन के बल पर अपने वर्ग को विंशेष लाभ पहुंचाने वाली नीतियो को राष्ट्रीय नीति का रूप प्रदान कर सकता है। इतर्राष्ट्रीय हितों का अभिप्राय यह है कि कई बार किसी देश का अल्पसंख्यक वर्ग किसी अन्य देश की सरकार से अपने को अभिन्न समझने लगता है और उसके हितों को अपना राष्ट्रीय हित मानने लगता है। वार्साय की सन्धि के बाद युरोप में जो नए राज्य बनाए गए थे उनमें से कई राज्यों में जर्मन अल्पसंख्यक वर्ग थे। चेकोस्लोवाकिया में इन जर्मन लोगों को स्यूडेटन कहा जाता था। हितलर का उत्कर्ष होने पर ये जर्मन विचारधारा के समर्थक बने और अपने देश की नीति तथा राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल जर्मनी के साथ मिलने पर बल देने लगे। किसी देश के अधिराष्ट्रीय हितों का अभिप्राय धार्मिक संस्थाओं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के हित से होता है। मध्ययुग के यूरोप में चर्च का संगठन बड़ा प्रभावशाली था। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अनेक अभिकरण राष्ट्रों से ऊंचे है। वे उन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि भी राष्ट्रीय हितों को अनेक अंशों में मर्यादित करती है।

राष्ट्रीय हित को अपनी विदेश निति का आधार बनाते हुए भी प्रत्येक देश को आजकल इस बात पर भी ध्यान देना पडता है कि वह दूसरे देशों के हितों को कोई बड़ी हानि पहुंचाने वाला कार्य न करे। आणविक युग में यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है। क्योकि इस समय कोई देश अपने शत्रु

को अपितु अन्य देशों को हानि पहुंचा सकता है। अतः अपने-अपने राष्ट्रों को हित के साथ दूसरे राष्ट्र के हितों को भी देखना आवश्यक हो जाता है। इस समय प्रत्येक न केवल अपने हितों पर अपितु अन्य राज्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों पर भी कड़ी दृष्टि रखता है। इस कारण प्रत्येक राष्ट्र को अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते हुए अनेक नैतिक कानूनी तथा परम्परागत नियमों का पालन करना पड़ता है। वे राष्ट्रीय हित पर प्रतिबन्ध का कार्य करते है।

1.11 सारांश-

समग्र रूप से इस अध्याय में अन्तराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित के महत्व का वर्णन किया गया है। राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूल सिद्धान्त है। विदेश नीति निर्माण का प्रारम्भिक बिन्दु राष्ट्रीय हित है। इस इकाई में राष्ट्रीय हित को को मुख्य रूप से छः भागों में विभक्त किया गया है इसमें सबसे पहले राष्ट्रीय हित से अभिप्राय का वर्णन किया गया है जिसमें राष्ट्रीय हित क्या है राष्ट्रीय हित के निर्माण में कौन-कौन सा तत्व शामिल होते है का वर्णन किया गया है। इसके बाद राष्ट्रीय हित के ऐतिहासिक विकास राष्ट्रीय हित के प्रकार दीर्घकालिक एवं तात्कालिक राष्ट्रीय हित, राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन राष्ट्रीय हित के केन्द्रिये तत्व का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। समग्र रूप से विदेश नीति के एक तत्व के रूप में राष्ट्र हित को परिभाषित करना हालांकि हमेशा चुनौतिपूर्ण रहा है बाबजूद इसके इसकी प्रासंगिकता अन्तरष्ट्रीय राजनीति मे हमेशा देखी जा सकती है।

1.12 शब्दावली

राष्ट्रीय हित- विदेश नीति के निर्धारण में राष्ट्रीय हित ही कूटनीति का आधार होता हैं।

प्रथम कोहि के हित- प्रथम कोटि हित से अभिप्राय ऐसे हित जिसके लिए राष्ट्र आत्मवलिदान करने को तैयार रहता हैं।

गौण हित- गौण हित उसे कहते है जो प्राथमिक हित से कम महत्व के होते है।

स्थायी हित- यह स्थायी होता है राज्य की सत्ता बदलने के बाद भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

परिवर्तनशील हित- यह समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहता है।

सामान्य हित- यह आर्थिक व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में लाभ पहुचाने वाले हित होते है।

विशिष्ट हित- विशिष्ट परिस्थिति में सामान्य हित से उत्पन्न होते है।

पूरक हित- दो देशों के बीच कुछ विशेष प्रश्नों के समझोतें से उत्पन्न होता है।

दीर्घकालिक हित- यह राष्ट्र का प्रमुख हित होता है जिस पर वह कोई समझोता नहीं करता है।

तात्कालिक हित- यह हित तात्कालिक जरूरतों के हिसाब से निर्धारित किया जाता है।

कूटनीति- अन्तरष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति को विदेश नीति को यर्थाथ रूप में क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। मार्गेन्थाऊ जैसे विचारक इसे अन्तराष्ट्रीय राजनीत का आँख और कान भी कहते हैं।

प्रचार और राजनीतिक युद्ध-यह कोई राष्ट्र शत्रु राष्ट्रों के प्रति हौआ खड़ा करने के लिए करता है।

अभ्यास प्रश्न-

प्रश्नः- ''राष्ट्रीय हित के प्रमुख तत्व के रूप में विदेश नीति'' उपरोक्त कथन की संक्षिप्त व्याख्या करे?

उत्तर- राष्ट्रीय हित की अवधारणा विदेश नीति का मूलभूत सिद्धान्त है। कोई भी राष्ट्र अपने विदेश नीति का निर्धारण अपने राष्ट्रीय हित के अनुसार ही करते है। जब तकदुनियाँराजनीतिक दृष्टि से राज्यों में विभाजित रहेगी तब तक विदेश नीति में राष्ट्रीय हित मार्मिक विषय रहेगी। यद्यपि राष्ट्रीय हित की परीभाषा काफी अस्पष्ट है और इसे कई बार सत्तारूढ़ शासकों का निजी हित भी कहा जाता रहा है फिर भी किसी भी राष्ट्र के विदेश नीति का संचालन राष्ट्रीय हित के आधार पर ही किया जाता है। विदेश नीति राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को प्राप्त करने का साधन होता है।

1.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.14 सन्दर्भ ग्रंथ-

1.मौरगेन्थो हैन्स (1951), ''इन डिफेंस ऑफ नेशनल इन्टे"स्ट'', यूनिवर्सिटी प्रेस ऑफ अमेरिका।
2.पंत, पुष्पेश (2008), ''21वी शताब्दी में अन्तरष्ट्रीय संबंध'', टाटा मेकग्राहील पब्लीकेशन कम्पनी लिमीटेड
3.हिल, क्रिस्टोफर (2013), द नेशनल इंटरेस्ट इन क्वेश्चन्स, फॉरेन पॉलिसी इन मलटी कल्चर सोसाईटिज

1.15 सहायक उपयोगी पाठय सामग्री-

1.ब्रूचील, स्कॉट (2005), द नेशनल इण्टेरेस्ट इन इन्टरनेशनल रिलेशन थ्योरी, पेलग्रेव मैकमिलन
2.खन्ना, बी.एन. (2003), अन्तरष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिग हाउफस प्र. लि.

1.16 निबंधत्मक प्रश्न

प्रश्नः- राष्ट्रीय हित से क्या अभिप्राय है? इसके विकास को स्पष्ट करते हुए अभिवृद्धि के प्रमुख साधनों पर प्रकाश डालें?

इकाई 2: राष्टीय हित के अभिवृद्धि के साधन-कूटनीति

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना।

2.1 उद्देश्य

2.2 कूटनीति

2.3 कूटनीति या राजनय का अर्थ एवं स्वरूप

2.3.1 कूटनीति के कार्य

2.3.2 कूटनीति के लक्ष्य

2.3.3 कूटनीति की सफलता की आवश्यक दशाएं

2.3.4 कूटनीति के साधन

2.3.5 राष्ट्रीय हितों के अभिवृत्ति मे कूटनीतिज्ञों का योगदान

2.3.6 कूटनीति-नूतन प्रवृत्तियां

2.3.7 कूटनीति का बढ़ता हुआ महत्व

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना-

जवाहर लाल नेहरु ने अपने एक भाषण में कहा था कि-किसी भी देश की विदेश नीति का आधार उसके राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा होता है। राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। प्रत्येक देश का राष्ट्रीय हित अलग -अलग होता है। वह उसकी आवश्यकताओं एवं उसकी भौगोलिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। प्रत्येक देश की परम्पराएं आचार-विचार, आर्थिक, सैनिक और धार्मिक आवश्यकताएं राष्ट्रीय हित के निर्माण के प्रमुख तत्व हैं।

कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयत्नों का एक महत्वपूर्ण साधन है। कूटनीति से तात्पर्य स्वाधीन राज्यों की सरकारों के बीच सरकारी सम्बन्धों के संचालन में मेधा और निपुणता का प्रयोग होता है। कूटनीति में सफलता का अर्थ है कि अन्य राष्ट्रों को अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने में सफलता प्राप्त करना। राष्ट्रीय शक्ति के जितने भी तत्व हैं कूटनीति उन्हें गतिशीलता एवं एकरूपता प्रदान करती है। राष्ट्रीय हितों की प्रगति के लिए शक्ति के विभिन्न तत्वों को अधिक प्रभावी बनाना कूटनीति स्वयं एक प्रभावी तत्व माना जाता है। इसके अलावा कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन है।

विदेश नीति को चाहे कितनी ही अच्छी तरह से योजनाबद्ध क्यों न किया जाय इसकी सफलता उत्तम कूटनीति पर निर्भर करती है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार ‘‘किसी राष्ट्र के वैदेशिक मामलों का इसके कूटनीतिज्ञों द्वारा संचालन करना राष्ट्रीय शक्ति के लिए शान्ति के समय उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि युद्ध के समय राष्ट्र शक्ति के लिए सैनिक नेतृत्व द्वारा चक्रव्यूह व दांव पेंचों का संचालन। यह वह कला है जिसके द्वारा राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में उन मामलों में अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में प्रयोग में लाया जाए जो कि हितों में सबसे स्पष्ट रूप से सम्बन्धित है।

2.1. उदेश्य-

1. कूटनीति क्या है, इसे जान सकेंगे।
2. कूटनीति के क्या कार्य होते हैं, जान पायेंगे।
3. कूटनीति के अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
4. कूटनीति के साधन के बारे में जान सकेंगे।
5. कूटनीतिज्ञों के योगदान को जान सकेंगे।
6. वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति के महत्व को समझ सकेंगे।

2.2. कूटनीति-

राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन कूटनीति है। कूटनीति के द्वारा एक देश की विदेश नीति दूसरे देश तक पहुंचती है। कूटनीति के माध्यम से एक देश के कूटनीति का दूसरे देशों के नीति-निर्मताओं और कूटनीतिज्ञों से संबंध स्थापित करते हैं तथा राष्ट्रीय हितों के इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समझौता वार्ता चलाते हैं। कूटनीतिज्ञों की समझौता वार्ताएं विरोध सुलझाव करने तथा राष्ट्र के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के मेल-मिलाप का प्रभावशाली साधन है। पारस्परिक 'दो' और 'लो' ; समायोजना तथा तथा मेल-मिलाप आदि द्वारा राष्ट्रीय हितों के इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कूटनीति द्वारा प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए रूस और चीन के खराब सम्बन्धों का लाभ उठाकर अमरीका के राष्ट्रपति निकसन के समय में चीन से अपने संबंध बेहतर करके रूस की शक्ति कमजोर कर दी थी और अपनी शक्ति का प्रसार किया तथा यह सिद्ध करने में सफल रहा कि अमरीका साम्यवादी विचारधारा का कट्टर शत्रु नहीं है।

कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति का महत्वपूर्ण तत्व है। कूटनीति विदेश नीति का एक साधन है। इसीलिए यह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में विवेकपूर्ण परिश्रम तथा मनुष्य द्वारा अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए विदेश नीति की सहायता करती है। कूटनीति ही विदेश नीति के साधनों तथा साक्ष्यों और राष्ट्रीय शक्ति के उपलब्ध स्रोतों में एकरूपता आ सकती है। राष्ट्रीय हितों की प्रगति के लिए शक्ति के जो विभिन्न तत्व हैं, उन्हें कूटनीति के माध्यम से वास्तव में प्रभावी बनाया जा सकता है।

2.3 कूटनीति या राजनय का अर्थ एवं स्वरूप-

'कूटनीति' शब्द अंग्रेजी के 'डिप्लोमेसी' का समानार्थी है। सन् 1796 में एडमण्ड बर्क ने इस शब्द का प्रयोग किया था। 'डिप्लोमेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'डिप्लाउन' शब्द से हुई है जिसका अर्थ मोड़ना अथवा दोहरा करना होता है। रोमन साम्राज्य में पासपोर्ट एवं सड़कों पर चलने के अनुमति-पत्र आदि दोहरे करके ही दिए जाते थे। ये पासपोर्ट तथा अनुमति-पत्र धातु के पत्रों पर खुदे रहते थे, जिनको 'डिप्लोमा' कहा जाता था। धीरे-धीरे 'डिप्लोमा' शब्द का प्रयोग सभी सरकारी कागजातों के लिए होने लगा। सन् 1693 में लैबनीट्ज तथा 1726 में डयूमाण्ट ने सन्धियों और शासकीय लेख-पत्रों का जो कोश तैयार किया था, उसमें 'डिप्लोमेटिक्स' तथा 'डिप्लोमेटिक' शब्दों का प्रयोग उन मूल राज्य प्रलेखों के लिए किया था जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से होता था। 'कूटनीतिक निकाय' उन समस्त राजदूतों, दूतों तथा कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था जो विदेशों की राजधानी में एक स्थायी दूतावास के सदस्य होते थे तथा 'कूटनीतिक सेवाएं' शब्द सार्वजनिक सेवाओं की उस विशिष्ट शाखा के लिए प्रयोग किया जाने लगा, जो विदेशों में स्थायी दूत मण्डलों के लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण देती थी।

हेरल्ड निकल्सन के अनुसार 'डिप्लोमेसी' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग विदेश नीति के समानार्थक रूप में किया जाता है, जैसे इस कथन में कि 'दक्षिण-

पूर्वी यूरोप में ब्रिटिश कूटनीति में ओज का अभाव है।' कभी इस शब्द द्वारा सन्धि वार्ता को इंगित किया जाता है जैसे 'कभी-कभी विदेश सेवा की एक शाखा को कूटनीति कह दिया जाता है। कूटनीति शब्द उस अमूर्त गुण या देन के लिए भी प्रयोग होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय समझौता वार्ताओं के संचालन में कौशल का अर्थ ध्वनित करता है।1

हेरल्ड निकल्सन के शब्दों में, अपने श्रेष्ठ अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि वार्ताओं में कौशल का प्रयोग कूटनीति है तथा अपने निकृष्ट रूप मे कूटनीति, छल, छद्म या चालाकी का द्योतक है।

सर अर्नेस्ट सेटो ने कूटनीति की परिभाषा की है, 'कूटनीति स्वतंत्र राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारी सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है।

आर्गेन्सकी के अनुसार, 'कूटनीति दो या दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करती है।3

क्विन्सी राइट ने कूटनीति को दो रूपों में परिभाषित किया है-लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में कूटनीति का अर्थ है 'किसी सन्धिवार्ता या आदान-प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धिवार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सके।

के.एम.पणिक्कर के शब्दों में, ''अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त कूटनीति अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।''

पेडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, ''कूटनीति को प्रतिनिधित्व एवं सन्धिवार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क में रहते हैं।''

मॉवट के अनुसार, ''कूटनीति राज्यों का प्रतिनिधित्व तथा समझौते करने की कला है।'' अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति न तो बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है, न समझौता वार्ता करने की व्यवस्था का नाम है और न यह किसी देश का विदेश विभाग है। कूटनीति का काम है सहमति पर पहुंचना। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का प्रसंग वहीं आ सकता है जहां मतभेद मौजूद हों। यदि पूर्ण सहमति हो तो वहां उसका प्रसंग नहीं होगा। कूटनीति का प्रयोग वहां होता है जहां असहमति या गलतफहमी के वास्तविक या सम्भावित क्षेत्र मौजूद हों। कूटनीति ऐसे क्षेत्र में कार्य करती है जहां बल प्रयोग की सम्भावनाएं मौजूद हो। और कूटनीति का काम उन सम्भावनाओं को टालना है। कूटनीति में सफलता का अर्थ है अन्य राष्ट्रों को अपने दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने में सफलता प्राप्त करना। कूटनीति ऐसे विरोधी हितों में सामंजस्य लाने की तकनीक है जो पहले तो मतभेद के प्रासंगिक तथ्यों का ठीक- ठीक पता लगाती है और फिर उनके समाधान की शर्तें निर्धारित करती है।

कूटनीति की उपर्युक्त परिभाषाओं के संदर्भ में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट होते हैं

(1) कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था है।

(2) यह समझौते और वार्ता की कला है।

(3) यह राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का साधन है।

2.3.1 कूटनीति के कार्य-

कौटिल्य के अनुसार कूटनीति के कार्य हैं-अपने राज्य का सन्देश अन्य राज्य को तथा अन्य राज्य का संदेश अपने राज्य को देना, सन्धियों का पालन करना, अपने राज्य की शक्ति का प्रदर्शन करना, मित्र बढ़ाना तथा शत्रुओं में फूट पैदा करना, आदि-आदि। के. एम. पणिक्कर के अनसार कूटनीति का एक लक्ष्य अपने देश के प्रति दूसरे देशों की सद्भावना अर्जित करना है, जिसके लिए चार बातें आवश्यक हैं-

1.दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार समझें,

2.2. ये उनके प्रति सम्मान के भाव रखें,

3.वह देश दूसरे देशों के न्यायोचित हितों को जानें,

4.वह देश ईमानदारी का व्यवहार करें।

मॉरगेन्थाऊ ने कूटनीति के चार कार्य बताए है-

1.कूटनीति का सबसे पहला काम राज्य की शक्ति का ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों को निर्धारित करना है,

2.उसका काम दूसरे राज्य की शक्ति का भी वस्तुनिष्ठ मुल्यांकन करना है,

3.वह इस बात का भी पता लगाए कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य और उसके अपने राज्य के लक्ष्य एक-दूसरे के साथ किस सीमा तक मेल खाते है,

4.अन्त में कूटनीति को अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समुचित उपय- समझौता, समझाना-बुझाना, बल प्रयोग की धमकी, आदि काम में लानी चाहिए। शस्त्र एवं मित्र युद्ध के औजार हैं। कूटनीति का कार्य बारूद को सूखी रखना तथा मित्रों को प्राप्त करना एवं लोगों को प्रभावित करना है।

संक्षेप में, कूटनीति के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं

1.सन्धि वार्ता-कूटनीति अपने तथा दूसरे राज्य के बीच विभिन्न विषयों पर समझौता वार्ता करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। कूटनीतिज्ञ न केवल अपने उस राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसके लिए वह भेजा गया है वरन् अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता कर सकता है। कूटनीज्ञि अपने राष्ट्रीय हित में

तर्क प्रस्तुत करता है। वह समझौता वार्ताओं में अपने देश के पक्ष में सौदेवाजी करता है तथा अपने देश के पक्ष मे अधिक लाभ अर्जित करने का प्रयत्न करता है।

2.निरीक्षण-कूटनीति का अन्य महत्वपूर्ण कार्य दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना और उसका पूरा प्रतिवेदन अपनी सरकार को भेजना है। दूसरे देश के गुप्त भेदों को जानने के लिए तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए कभी-कभी कूटनीतिज्ञ जासूसी कार्यवाही भी करते हैं।

3.संरक्षण-कूटनीमि का अन्य कार्य विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन एवं अन्य हितों की रक्षा करना है। यदि विदेशों में अपने देशवासियों के सम्मान एवं हितों को चोट पहुंचती है तो राजनयज्ञ यहां के विदेशमन्त्री से सम्पर्क करते हैं।

4.प्रतिनिधित्व-कूटनीनिज्ञ दूसरे देशों मे अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने राज्य की सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक प्रतिनिधि के रूप में कूटनीतिज्ञ अपने राज्य तथा सरकार का प्रतीक होता है तथा उनके विचारों की अभिव्यक्ति करता है वह अपने देश के दृष्टिकोण को बड़ी चतुरता, सपष्टता एवं संक्षित्तता के साथ प्रस्तुत करता है।

5.जनसम्पर्क-राजनयज्ञ निरन्तर अपने राज्य और उसकी नीतियों के प्रति सद्भावना बनाने के कार्य में संलग्न रहता हैं इसके लिए वह प्रचार तथा जनसम्पर्क के दूसरे कार्य सम्पन्न करता है। पार्टियों एवं भोजों में सम्मिलित होता है, सार्वजनिक एवं अन्य अवसरगत भाषण देता है।

वियना अभिसमय (1961) में कूटनीतिज्ञ के पांच कार्यों का उल्लेख किया गया है-(i) विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना, iii) अन्य राज्यों की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके, (iv) अन्य राज्यों की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके अपने देश को सूचना एवं प्रतिवेदन भेजना, और (v) स्वदेश तथा ग्रहणकर्ता राज्यों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना।

2.3.2 कूटनीति के लक्ष्य-

युद्ध एवं शान्तिकाल में कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत-देश की सुरक्षा, जन-कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित हैं। के. एम. पाणिक्कर ने लिखा है कि ''समस्त कूटनीतिक सम्बन्धों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है,परन्तु इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना कूटनीति का उद्देश्य है।''

के. एम. पणिक्कर ने कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार बताए हैः-

1.मित्र राष्टों क साथ सम्बन्धो को मजबुत बनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हों उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

2.अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों को तटस्थ बनाए रखना।

3.अपने विरूद्ध दूसरो राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित हैः

1.राष्ट्रीय हित की रक्षा-कूटनीति का मुख्य लक्ष्य अपने राज्य के हितों की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य का बुनियादी हित अपनी सीमाओं की रक्षा होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, राष्ट्रिकों की रक्षा, आदि भी महत्वपूर्ण विषय है तथा कूटनीति इनकी सुरक्षा का प्रयास करती है।

2.राज्य की अखण्डता का रक्षा- कूटनीति का यह महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि वह अपने देश की प्रादेशिक अखण्डता के साथ राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की भी रक्षा करे। आजकल केवल सैनिक आक्रमण से ही राज्य की सुरक्षा खतरे मे नहीं पडती वरन् सामाजिक महत्व के क्षेत्रों पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एवं देश में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर भी उसकी सुरक्षा को खतरे मे डाला जा सकता है।

3.मित्रों से संबन्ध बढाना तथा शतुओं को तटस्थ करना-कूटनीति अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए मित्र देशों के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों को दृढ़ बनाती है तथा ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाती है जिनसे राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचने की सम्भावना हो।

4.विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना-कूटनीति का एक लक्ष्य यह है कि अन्य राज्यों को अपने राज्य के विरूद्ध संगठित होने से रोके। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा, कुछ को समर्थन देना होगा तथा कुछ को तटस्थ रखना होगा।

5.युद्ध का संचालन-युद्ध आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक तथ्य है। यदि युद्ध छेड़ना आवश्यक बन जाए तथा सन्धि वार्ता के सभी साधन असफल जो जाएं तो कूटनीति के दायित्व का रूप बदल जाता है। के.एम. पणिक्कर के अनुसार 'प्रभावशाली कूटनीति के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते है। और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियां एवं युद्धकाल में प्रभावहीन कूटनीति एक शक्तिसम्पन्न राष्ट्र की हार एवं उसके विनाश का कारण बन जाता है।'2

6.आर्थिक एवं व्यावसायिक लक्ष्य-पणिक्कर के शब्दों में, पिछले तीस वर्षो में व्यावसायिक कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सर्वाधिक सक्रिय पहलू बन गया है।' अब प्रत्येक राज्य यह जान गया है कि व्यापार को राजनीतिक कार्यों मे प्रमुख साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाए। प्रत्येक राज्य दूसरे देशों में अपने उत्पादनों के लिए बाजार तलाश करता है, स्पर्द्धा को घटाता है, आर्थिक सतर्कता रखता है तथा अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य उचित कदम उठाता है।

7.सद्भावना की स्थापना-राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए कूटनीति को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देशों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।

पामर एवं पर्किन्स ने लिखा है-''विदेश नीति की भांति कूटनीति का उद्देश्य, सम्भवतः शक्ति साधनों द्वारा, लेकिन यदि युद्ध को नहीं रोका जा सका तो सैनिक गतिविधियों की सहायता प्रदान कर, राष्ट्रीय सुरक्षा प्रदान करना है। कूटनीति, जैसा कि निकल्सन ने कहा है, युद्ध काल में समाप्त नहीं हो जाती हालांकि युद्ध काल मे उसे अलग भूमिका निभानी पड़ती है तो विदेश मन्त्रियों की तरह कूटनीतिज्ञों का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो विश्वयुद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।''

2.3.3 कूटनीति की सफलता की आवश्यक दशाएँ-

अच्छा राजनय उसे ही कहा जायेगा जिसमें कूटनीतिज्ञ को सफलता प्राप्त हो। उसकी कुछ विशेष बातें निम्न हैं-

1- कूटनीतिज्ञ को सारी स्थिति की सही और स्पष्ट जानकारी होना आवश्यक है। कूटनीतिज्ञ को इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह समस्या के बारे में केवल अपने राष्ट्र के दृष्टिकोण से परिचित हो, अपितु यह भी जरूरी है कि उस मामले में अन्य राष्ट्रों के दृष्टिकोण की भी उसे पूरी जानकारी हो।

2-कूटनीतिज्ञ को यह भी जानना जरूरी है कि उसके अपने राष्ट्र की क्षमता ;बंचंइपसपजलद्ध क्या है। यदि कूटनीतिज्ञ को इस क्षमता का पता नहीं है तो वह वार्ता में कोई बाध्यकारिता का तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकेगा।

3- कूटनीति को अपना काम करने में सुनम्यता ;सिमगपइपसपजलद्ध बरतनी चाहिए। यदि वह सुनम्यता नहीं बरतेगा तो हो सकता है कि वह समायोजन या समझौते की स्थिति अपने हाथ से खो बैठे। कूटनीतिज्ञ को यह भी जानना आवश्यक है कि किसी विशिष्ट मामले में किस बिन्दु पर दबना है और किस बिन्दु पर दबकर कोई समझौता नहीं करना है। अनिवार्यता की किसी स्थिति में भी दबना उसके राष्ट्र के लिए लाभकारी नहीं होगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह महसूस किया गया कि पारम्परिक किस्म का राजनय अब अधिक कारगर साबित न होगा। बहुत से ऐसे मुद्दे खड़े कर दिये गये हैं कि जिनके कारण कोई भी समझौता यदि किया जाने को होता है तो उसे राष्ट्र की गरिमा के विपरीत करार दे दिया जाता है। ऐसे वातावरण में राजनय कैसे कारगर सिद्ध होगा। शीत युद्ध के जमाने में राजनय की भूमिका पुनः स्पष्ट हुई। अब राष्ट्र ऐसी स्थिति नहीं पड़ते थे कि जिससे वह विचलित न हो सकें। अब उनकी स्थिति राजनय की भूमिका को अस्वीकार करने की नहीं थी। अब वे जान गये थे कि राजनय ऐसे विरोधी हितों में सामंजस्य लाने की तकनीक है जो पहले तो विरोध के प्रासंगिक तथ्यों का ठीक-ठीक पता लगाती हैं

और फिर उनके निपटारे की शर्तें निर्धारित करती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सब कार्य राष्ट्रीय हित की जरूरतों के विस्तृत ढाँचे के भीतर ही किया जायें।

2.3.4 कूटनीति के साधन-

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, ''एक कुशल राजनय ;क्पचसवउंबलद्ध का, जो शान्ति संरक्षण के लिए तत्पर है, अन्तिम कार्य है कि वह अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों को चुने। राजनय को तीन प्रकार के साधन प्राप्त होते हैं-अनुनय, समझौता तथा शक्ति की धमकी।''

अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में प्रयोग में आने वाला मुख्य तरीका अनुनय का है और सफल राजनयज्ञ में अनुनय की कला होने की आशा की जाती है। वार्ता करने वाले पक्ष राष्ट्र होते हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुनय का क्षेत्र बहुत बड़ा नहीं होता। कूटनीति सहमति पर पहुंचने की एक प्रक्रिया है। यदि सहमति होना असम्भव सिद्ध हो तो कूटनीति का क्षेत्र समाप्त हो जाता है क्योंकि उस स्थिति में बल प्रयोग का सहारा लिया जाता है और बल प्रयोग सहमति के बिना दूसरों को प्रभावित करने का एक तरीका है। कूटनीतिज्ञ पुरस्कार का वचन या दण्ड की धमकी दे सकते हैं जो दोनों शक्ति के प्रयोग की विधियों में आते हैं। कूटनीतिज्ञ की पुरस्कार का वचन देने और दण्ड की धमकी देने की सामर्थ्य भी सीमित होती है। उदाहरण के लिए, वह वे पुरस्कार नहीं पेश कर सकता जो उसके राष्ट्र के पास नहीं हैं।

कोई भी कूटनीति जो अनुनय और समझौते पर ही निर्भर करती है, कुशल कहलाने के योग्य नहीं है। साधरणतया एक बड़े राष्ट्र के कूटनीतिक प्रतिनिधि को अपने देश के हितों और शान्ति के हितों की सेवा करने के योग्य होने के लिए एक ही समय में अनुनय का प्रयोग करना होगा, समझौते के लाभ उठाने होंगे तथा दूसरे पक्ष को अपने देश की सैनिक शक्ति से भी अवगत करना होगा। जैसा कि फ्रेडरिक एल.शूमां ने लिखा है, ''कूटनीतिज्ञों का प्रथम कर्तव्य राष्ट्रीय सुरक्षा,परन्तु सभी समयों एवं सभी परिस्थितियों में सुरक्षा शक्ति पर निर्भर रहती है तथा शक्ति उस समय तक व्यर्थ रहती हैं जब तक कि आवश्यकता पड़ने पर उसे सशस्त्र शक्ति के रूप में परिणत न किया जा सके।''

2.3.5 राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में कूटनीतिज्ञों का योगदान-

राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति के उद्देश्य तथा कूटनीति के लक्ष्य की प्राप्ति का प्रमुख उत्तरदायित्व कूटनीतिज्ञों पर होता है। कूटनीतिज्ञ ही विभिन्न कार्यों द्वारा नीतियों को साकार रूप प्रदान करते हैं। प्राचीन काल से ही इन कूटनीतिज्ञों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्व रहा है। इन कार्यों एवं महत्व के विषय में कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र में लिखा है- ''अपनी सरकार के दृष्टिकोण को दूसरी सरकार तक पहुंचना, सन्धियों को बनाए रखना, अपने राज्य हितों की रक्षा करना-यदि आवश्यक हो तो डरा-धमका कर भी मित्र बनाना, फूट डालना, गुप्त संगठन बनाना, गुप्तचरों की गतिविधि के बारे में जानकारी प्राप्त करना, जो सन्धियां अपने राज्य के हित में न

हों उन्हें निष्फल बनाना, उस देश (जिसमें वह नियुक्त हो) के शासनाधिकारियों को अपनी तरफ मिलाना, ये राजदूत के कर्तव्य हैं।''

कौटिल्य ने राजदूत के जिन कर्तव्यों का उल्लेख किया है, सामान्यतः ये सभी कूटनीतिज्ञों के लक्ष्य हैं जिनसे राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। कौटिल्य से भी पहले मनु ने मनुस्मृति में लिखा है कि युद्ध और शान्ति ये सब राजदूत के प्रयासों पर निर्भर हैं। इसी प्रकार पणिक्कर ने भगवान श्रीकृष्ण का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है कि जब वे पाण्डवों का पत्र लेकर कौरवों के दरबार में गए तो उनका लक्ष्य पाण्डवों के हितों का संरक्षण था।

यूनानी नगर राज्यों में भी, विशेषतः बाइजेण्टियम के राजदरबार में, कूटनीति एक परिमार्जित कला बन गयी थी तथा शासक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का सदैव ही आदर करते थे। यह स्थिति प्रत्येक युग में बनी रही। धीरे-धीरे कूटनीतिज्ञों की स्थायी महत्व स्वीकार किया गया और राज्य कूटनीतिज्ञों की स्थायी नियुक्ति करने लगे। उनकी नियुक्ति किसी कार्य विशेष अथवा किसी सन्धि वार्ता की पूर्ति तक के लिए ही नहीं की जाती थी। ऐसे कार्य या वार्ता की समाप्ति हो जाने के बाद भी उनके पद का अन्त नहीं होता था। स्थायी कूटनीतियों का महत्व लगभग 15वीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है।

2.3.6 कूटनीतिः-नूतन प्रवृत्तियां

मॉरगेन्थाऊ ने जिस कूटनीति के पतन की चर्चा की है वह परम्परागत कूटनीति है। आधुनिक विश्व राजनीति में परम्परागत कूटनीति मुश्किल से ही राष्ट्रीय हितों की वृद्धि कर सकती है। वर्तमान में कूटनीति में नूतन प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है। नए तरीकों, प्रक्रियाओं और साधनों को अपनाया जा रहा है। यहां हम कूटनीति के नए आयामों की चर्चा करेंगेः

(1) प्रजातांत्रिक कूटनीति-; 20वीं शताब्दी तक इस नवीन कूटनीति के लिए प्रजातांत्रिक कूटनीति शब्द प्रयोग होने लगा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इसका अर्थ ऐसी व्यवस्था से था, जिसमें सरकारें अपनी राजतंत्रीय और कुलीन प्रवृत्तियां छोड़ रही थीं तथा राष्ट्रों की जनता, अपने प्रजातांत्रिक प्रतिनिधियों तथा अनौपचारिक माध्यमों से एक-दूसरे से सम्बन्धित हो रही थीं।

(2) सम्मेलनों द्वारा कूटनीतिः ; प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सम्मेलन कूटनीति एक स्थायी प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा की योजना अथवा प्रादेशिक संगठनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का महत्व और भी अधिक हो ही गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान चार बड़ों के सम्मेलनों का निरन्तर प्रयोग किया गया, अन्तर-संश्रित ; Inter-Allied कमेटियों और स्थायी परिषदों का निर्माण किया गया। सर आर्थर साल्टर इन अन्तर्राज्य परिषदों को अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की एक नवीन प्रवृत्ति मानते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्मेलन कूटनीति इतनी प्रचलित हो गयी कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र, सैनिक सन्धियों; जैसे नाटो, सीटो तथा गुट निरपेक्ष राज्यों के तत्वावधान में सम्मेलन

आयोजित होते ही रहते हैं। आंकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष 6 से 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं। इनमें अधिकांश सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ या इससे सम्बद्ध संगठनों तथा अभिकरणों के तत्वावधान में किए जाते हैं। आज कल इन सम्मेलनों का और बहुपक्षीय राजनीति का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय में ऐसे सम्मेलन बुलाने और इनकी व्यवस्था करने के लिए एक पृथक विभाग बनाया गया है और यह संघ की महासभा, परिषदों, आयोगों और सम्मेलनों की बैठकें बुलाने का आयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में करता है।

(3) व्यक्तिगत कूटनीति-; जब कूटनीतिक विषयों के समाधान के लिए सरकारी अधिकारियों के स्थान पर सम्बन्धित देशों के अध्यक्षों, प्रधान मंत्रियों अथवा विदेश मंत्रियों द्वारा सीधा भाग लिया जाता है तो उसे व्यक्तिगत कूटनीति कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अन्तः राज्य नीति के निर्माण और विकास में चर्चिल तथा रूजवेल्ट का विशेष हाथ था। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में होने वाले सम्मेलनों में महासभा की बैठकों में सभी देशों के प्रधानमंत्री प्रायः भाग लेते हैं। आवागमन के साधनों के तीव्र विकास ने व्यक्तिगत कूटनीति के प्रयोग में वृद्धि की है। अब तो थोड़े -से भी महत्व वाले मामलों में व्यक्तिगत कूटनीति को अपनाया जाता है। कभी-कभी समस्त परम्परागत माध्यमों के स्थान पर राष्ट्रों के अध्यक्ष विशेष महत्वपूर्ण, गम्भीर, नाजुक स्थितियों को संभालने के लिए अपने विशेष विश्वासपत्र व्यक्तियों का उपयोग करते हैं। हम सभी जानते हैं कि विल्सन कर्जन हाउस पर, रूजवेल्ट हैरी हापकिन्स पर, नेहरू कृष्णा मेनन पर, निक्सन हेनरी किसिंगर पर विशेष विश्वास करते थे। व्यक्तिगत कूटनीति का एक और रूप भी है कि राष्ट्रों के अध्यक्ष व्यक्तिगत रूप से सीधे ही विचार-विमर्श करें जैसे पूर्व में सम्राट मिलते थे। चर्चिल और रूजवेल्ट तो टेलीफोन पर सीधी बात करते थे और पत्र-व्यवहार करते रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार की कूटनीति में अविवेक, भ्रम, द्विरूपता और रहस्योद्घाटन के अधिक अवसर रहते हैं। विशेषकर व्यक्तिगत रूप से यदि दो अध्यक्षों को एक-दूसरे का व्यक्तित्व रुचिकर न लगे तो समस्याओं के अधिक उलझने की सम्भावना रहती है।

(4) सांस्कृतिक कूटनीति - सांस्कृतिक कूटनीति अराजनीतिक तत्वों एवं समस्याओं पर बल देती है; जैसे विज्ञान, तकनीकी, शैक्षणिक आदान- प्रदान, आदि पर। दूसरे देशों में अपनी सभ्यता,जीवन प्रणाली तथा विचारधारा का प्रचार करना सांस्कृतिक कूटनीति का अंग है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ सांस्कृतिक प्रसार एवं विस्तार पर अधिक जोर देने लगे।

(5) प्रचार कूटनीति -आजकल कूटनीति में प्रचार का महत्व काफी बढ़ गया है। कूटनीतिक निर्णयों को अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार तकनीकी का प्रयोग करता है। प्रचार द्वारा जनता में अनेक मिथ्या विश्वास एवं भ्रम उत्पन्न किए जाते हैं। इसके द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तेयार किया जाता है। वैसे तो सभी राज्य प्रचार और प्रकाशन द्वारा कूटनीति का संचालन करते हैं, किन्तु साम्यवादी राज्यों में इनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता है।

2.3.7 कूटनीति का बढ़ता हुआ महत्व-

यदि कोई राष्ट्र कूटनीति को प्रयोग में नहीं लाना चाहता अथवा उसके पास कूटनीति को कार्यान्वित करने की क्षमता नहीं है तो वह अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई दूसरे विकल्प का सहारा नहीं ले सकता। यदि वह युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहता अथवा नहीं ले सकता तो उसे अपने राष्ट्रीय हितों का ही परित्याग करना होगा। आधुनिक तकनीकी उन्नति ने युद्ध की उपादेयता को संदिग्ध बना दिया है और इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि द्विपक्षीय युद्ध आणविक युद्ध में परिवर्तित न हो जाए, अतः राज्यों के सामने कूटनीति के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है।

आज की अन्तराष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का काम परमाणु बम का निवारण करना है। परमाणु युद्ध की समस्या एवं भयंकर चुनौती है जिसका सामना कूटनीति को करना है। आज कूटनीति का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय संकटों और समस्याओं का सामंजस्यपूर्ण हल खेजना ही नहीं है अपितु परमाणु अस्त्रों के फैलाव को रोकना है- तीसरे विश्वयुद्ध के खतरे को टालना है। जब हम यह कहते हैं कि युद्ध सम्भव है तो कूटनीति की कला में आए परिवर्तनों के कारण अब यह भी कहा जाने लगा है कि कूटनीतिक वार्ता द्वारा युद्ध से बचा जा सकता है।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसर, ‘‘कूटनीति शान्ति सरंक्षण का सबसे उत्तम साधन है। कूटनीति आज की अपेक्षा शान्ति को अधिक सुरक्षित बना सकती है और यदि राष्ट्र कूटनीति के निमयों का पालन करें तो उस परिस्थिति की अपेक्षा विश्व राज्य शान्ति को अधिक सुरक्षित बना सकता है। तथापि, जिस प्रकार एक विश्व राज्य के बिना स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार कूटनीति की शान्ति संरक्षण एवं लोकसमाज -निर्माण सम्बन्धी प्रक्रियाओं के बिना एक विश्व राज्य सम्भव नहीं है। विश्व राज्य को एक अस्पष्ट कल्पना से ऊपर उठाने के लिए कूटनीति की समायोजक प्रक्रियाआं का, जिनसे संघर्ष मन्द एवं न्यूनतम होते हैं, अवश्य पुनः प्रवर्तन करना होगा।’’1

2.4 सारांश

कूटनीति एक ऐसा साधन है, जिससे किसी राष्ट्र की विदेश नीति अपने सीमाओं से बाहर दूसरे राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करती है। कूटनीति के माध्यम से ही दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों के आधार पर विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं। एक साधन के साथ-साथ कूटनीति विदेश का एक निवेश भी है। कूटनीतिक श्रेष्ठता के द्वारा बिना कोई अन्य प्रकार से निर्बल होते हुए भी यदि कूटनीतिक दृष्टि से सबल है, तो वह अपनी विदेश नीति के उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क मानी जाती है। विदेश नीति की सफलता कूटनीति पर ही निर्भर होती है।

कूटनीति के प्रतिनिधित्व एवं सौदेबाजी की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा परम्परागत रूप से शान्तिाकल में राज्यों का परस्पर सम्बन्ध कायम रहता है। कूटनीति के माध्यम से युद्ध लड़े बिना ही राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों का संरक्षण तथा इसमें अभिवृद्धि कर सकते है। समस्त राजनयिक सम्बन्धों का मूल उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना होता है और प्रत्येक राष्ट्र का मूलभूत हित स्वयं अपनी सुरक्षा करना होता है। इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित व्यापार देशवासियों की रक्षा आदि अन्य ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिसका ध्यान रखना राजनय (कूटनीति) का उद्देश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति के बहुत सारे लक्ष्य होते हैं जिनको पूरा करना उस देश के कूटनीतिज्ञ का परम कर्तव्य होता है जिसके बिना उस देश के बंदेशिक सम्बन्धों का संचालन एवं राष्ट्रीय हित पूरा ही नहीं हो सकता उनमें प्रमुख राष्ट्रीय हित पूरा ही नहीं हो सकता उनमें प्रमुख निम्न हैं-

1.राष्ट्रीय हित की रक्षा करना।

2.राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता की रक्षा करना।

3.मित्रों के सम्बन्ध बढ़ाना तथा शत्रुओं को तटस्थ करना।

4.विरोधी शक्तियों के गठबंधन को रोकना।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्ष्यों को पूरा करने के लिए सन्धिवार्ता, निरीक्षण, संरक्षण, प्रतिनिधित्व एवं जन सम्पर्क के माध्यम से सारे लक्ष्य पूरे किये जाते हैं।

2.5 शब्दावली

कूटनीति - राजनय

वार्ता - बातचीत

अभिवृद्धि - बढ़ोत्तरी (उन्नति)

सन्धि - समझौता

जन सम्पर्क - लोगों से बातचीत करना

संरक्षण - सुरक्षा करना

नूतन - नया (आधुनिक)

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि में प्रमुख साधन कौन हैं।

1.प्रचार 2. विचारधारा

3. कूटनीति 4. साम्राज्यवाद

उत्तर-3

2. कूटनीति का सबसे प्रमुख कार्य क्या है।

1. सन्धिवार्ता 2. निरीक्षण

3. जन सम्पर्क 4. संरक्षण

उत्तर-1

3-कूटनीति का प्रमुख लक्ष्य क्या होता है।

1. राष्ट्रीय हित की रक्षा 2. आर्थिक विकास

3. युद्ध करना 4. विरोधियों को परास्त करना

उत्तर-1

4. राष्ट्रीय शक्ति का मुख्य श्रोत है-

1. सैनिक तत्व 2. आर्थिक विकास

3. जनशक्ति 4. उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर-2

5- 'राष्ट्रहित विदेश नीति का प्रारम्भिक बिन्दु है यह कथन किसका है।

1. मॉर्गेन्थाऊ 2. जोसेफ

3. लार्ड पामर्स्टन 4. नार्मल हित

उत्तर-4

2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची-

1.फाड़िया,बी0एल,अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति,''साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा, 2012 ।

2.सिंघल,डॉ0एस0सी0,अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति''लक्ष्मी नारायन पब्लिकेशन, आगरा, 2011 ।

3.पंत, पुष्पेश,''अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, दिल्ली।

2.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री-

1.खन्ना डॉ0बी0एन0अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति,एस0बी0पी0डी0प्रकाशन,आगरा, 2014 ।

2.जौहरी जे.सी.,राजनीतिक विचार धाराएं एस0बी0पी0डी0पब्लिशिंग हाऊस आगरा, 2012-8 ।

3.अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, महेन्द्र कुमार ।

4.अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, बी0एल0 फाड़िया।

2.9. निबन्धात्मक प्रश्न-

1.क्या कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। व्याख्या ।

2.कूटनीति के प्रमुख साधनों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

3.आधुनिक कूटनीति की नूतन प्रवृत्तियों का विस्तृत रूप से वर्णन कीजिए।

4.राजनय के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।

इकाई - 3 साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद

इकाई की संरचना

3.1प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 साम्राज्यवाद

3.4 उपनिवेशवाद

3.5. साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का प्रभाव

3.6. सारांश

3.7. शब्दावली

3.8. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.9. संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.10. सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

3.11. निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वैश्विक क्षितिज में कुछ घटनाक्रम इतने क्रांतिकारी बदलाव के संवाहक रहे जिन्होंने सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था को न सिर्फ प्रभावित किया, अपितु वैश्विक संरचनाओं और प्रक्रियाओं को स्थापित करने की महत्वपूर्ण धुरी रहे। इन घटनाक्रमों ने भविष्य की वैश्विक व्यवस्था की दिशा और कुछ अर्थों में इनका प्रभाव भी तय किया। इस संदर्भ में यूरोप में होने वाले पुर्नजागरण तथा पुर्नजागरण और बौद्धिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि में होने वाले क्रमशः औद्योगिक क्रांति तथा परिणामस्वरूप उभरने वाले साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही। औद्योगिक क्रांति तथा परिणामस्वरूप उभरने वाले साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद ने न सिर्फ राज्यों के आर्थिकी को प्रभावित किया, अपितु सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था के सामाजिक और आर्थिक संरचनाओं को भी प्रभावित किया। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रभाव ने पूरी वैश्विक व्यवस्था को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु समकालीन वैश्विक संरचना का स्वरूप भी निर्धारित किया। वर्तमान वैश्विक व्यवस्था और उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं को समझने के उद्देश्य से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति को समझना भी आवश्यक है। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति जो कि विशेष रूप से यूरोप के राष्ट्रों में औद्योगिक क्रांति और यूरोपिय राष्ट्रों के एकीकरण और कालांतर में उनके औद्योगिक उत्पादों के बाजार की खोज के रूप में शुरू हुयी थी; ने शीघ्र ही सम्पूर्ण विश्व को अपने दायरे में ले लिया।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- साम्राज्यवाद की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- उपनिवेशवाद के अर्थ और प्रकृति को जान सकेंगे।
- वैश्विक व्यवस्था में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रभाव को बेहतर रूप में समझ सकेंगे।
- औद्योगिक क्रांति के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के साथ अंतःसंबंधों को समझने में सहायता प्राप्त होगी।

3.3 साम्राज्यवाद

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में प्रारम्भ हुयी परिवर्तन की प्रक्रिया न सिर्फ क्रांतिकारी थी, अपितु इतनी तीव्र थी कि उसने शीघ्र ही पूरे यूरोप में औद्योगिक क्रांति के प्रभाव के रूप में मशीनों की उपयोगिता को उत्पादन की समस्त प्रक्रियाओं में गहराई से स्थापित कर दिया। इस प्रभाव ने न सिर्फ उत्पादन की प्रक्रिया और गति को प्रभावित किया बल्कि, पूर्व स्थापित समस्त संरचनाओं को बने रहने के लिए एक चुनौती भी प्रस्तुत की। उत्पादन की प्रक्रिया में तेजी से परिवर्तन ने उत्पादन व्यवस्था, उत्पाद की प्रकृति और उत्पादन की गति को तेजी से प्रभावित किया जिससे अन्य संरचनाओं में बदलाव न सिर्फ आवश्यक हो गया, बल्कि तीव्र गति से बदलाव और सामंजस्य स्थापित न करने की स्थिति में, राज्यों के स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भी एक गंभीर खतरा उत्पन्न हो गया। सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं की डगमगाती स्थिति से उसमें परिवर्तन अवश्यमभावी हो गए। इस परिवर्तन की प्रक्रिया ने नवीन मूल्य व्यवस्था और संरचनाओं को जन्म दिया। परिणामस्वरूप पूरा यूरोप और विश्व एक नयी व्यवस्था के सृजन की तरफ अग्रसर हो गया। इस नयी व्यवस्था के सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका साम्राज्यवाद के प्रवृत्ति की रही।

जब कोई राज्य अपने हितों को पूरा करने के उद्देश्य से किसी अन्य राज्य की राजनीतिक सम्प्रभुता का अतिक्रमण करते हुए, उसके राजनीतिक और आर्थिक संरचनाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर, अपनी प्रभुता स्थापित करता है, वो साम्राज्यवाद कहलाता है। सामान्य अर्थों में साम्राज्यवाद का अर्थ अपनी सीमाओं और साम्राज्य का विस्तार करते हुए दूसरे राज्य की सम्प्रभुता और उसके अन्य निर्णयकारी संरचनाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित करना है। साम्राज्यवाद शब्द जो कि अंग्रेजी शब्द इम्पीरियलिज्म का हिन्दी रूपांतरण है, की व्युतपत्ति लैटिन के 'इम्पीरियम' शब्द से हुयी है जिसका अर्थ है सर्वोच्च शक्ति। इसका सर्वप्रथम प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन में नकारात्मक संदर्भों में किया गया। साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है जो कि, राज्य की शक्ति और हितों के संवर्धन से जुड़ा है। प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था में अश्वमेघ यज्ञ के रूप में राजनीतिक विस्तार के वृत्तांत मिलते हैं। वर्तमान साम्राज्यवाद का परिप्रेक्ष्य इससे इस रूप में अलग है कि, यह राजनैतिक से ज्यादा आर्थिक है और साम्राज्यवाद के केन्द्र में बाजार की खोज निहित है। यद्यपि साम्राज्यवाद में वर्चस्व, प्रतिस्पर्धा और शक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करने की भावना भी निहित रही तथापि उसके आर्थिक कारक ज्यादा महत्वपूर्ण उत्प्रेरक रहे। एडवर्ड सइद ने साम्राज्यवाद को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है जिसमें वर्चस्व और अधीनता की संगठित व्यवस्था केन्द्र और परिधि के रूप में विद्यमान हो। इस अर्थ में साम्राज्यवाद का अर्थ और उसका दायरा काफी विस्तृत हो जाता है।

सामंती व्यवस्था से औद्योगिक समाज के विकास ने एक मजबूत राष्ट्र-राज्य की संकल्पना पर बल दिया, फलतः यूरोप के अधिकांश राष्ट्र, राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया में संलग्न हो गए और नवीन सशक्त राष्ट्र-राज्य की भूमिका में सामने आए। इस प्रक्रिया ने सामंती व्यवस्था के अनेक अवशेषों को हटा कर एक नवीन सामाजिक-राजनीतिक संरचना के निर्माण का कार्य किया जो औद्योगिक उत्पादन और उस समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप हो। औद्योगिक उत्पादन की गति को बनाए रखने के लिए एक मजबूत राष्ट्र-राज्य के समर्थन के साथ ही साथ उत्पादन के लिए कच्चे माल और उत्पादित माल के लिए बाजार की आवश्यकता महसूस हुयी जो यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों की सीमाओं में संभव नहीं था। नए बाजार की संभावना, यूरोप की सीमओं के बाहर ही संभव था। नए बाजार की खोज और औद्योगिक उत्पादन की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए एक मजबूत राजनीतिक इकाई की आवश्यकता अवश्यमभावी हो गयी। नए बाजार और संसाधनों की खोज के लिए यूरोप के प्रमुख राजनीतिक इकाईयों जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों की तरफ रूख किया। यूरोपिय देशों द्वारा 'सभ्यता के विस्तार' और 'श्वेत व्यक्तियों के उत्तरदायित्व' के नाम पर इन देशों की आर्थिक और क्रमशः राजनीतिक व्यवस्था पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जाता है और उन देशों को अपने उपनिवेश के रूप में प्रयोग करते हुए, उसे अपने साम्राज्य में जोड़ लिया जाता है। यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य, औद्योगिक विकास को लेकर अंधप्रतिस्पर्धा के कारण न सिर्फ औपनिवेशिक देशों के उपलब्ध संसाधनों का अंधाधुंध प्रयोग किया जाता है, अपितु वहां के मानवीय संसाधन को भी मात्र औद्योगिक विकास के एक उपकरण के रूप में ही प्रयोग किया जाता रहा। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप औपनिवेशिक इकाईयों में गहरे असंतोष और विरोध ने जन्म ले लिया। साम्राज्यवाद की अंधप्रतिस्पर्धा का दूसरा भयानक परिणाम, उपनिवेशों को लेकर उनके मध्य संघर्ष के रूप में सामने आया। इन संघर्षों ने न सिर्फ वैश्विक व्यवस्था की शांति को प्रभावित किया, बल्कि औपनिवेशिक राज्यों को भी एक वस्तु की तरह ही समझते हुए उनका बंटवारा किया। अफ्रीकी देशों के नक्शे जो कि अधिकांशतः सीधी रेखा में हैं, औपनिवेशिक साम्राज्यों के बंटवारे के मौन साक्षी हैं। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की परिणति भी इसी का परिणाम रही। अठारहवीं शताब्दी में यूरोप से उभरने वाले साम्राज्यवाद की इस प्रवृत्ति ने पूरी वैश्विक व्यवस्था को प्रभावित करते हुए शीघ्र ही नयी संरचनाओं और प्रवृत्ति को जन्म दिया जिसमें उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही। साम्राज्यवाद के समानांतर ही उपविवेशवाद की प्रवृत्ति का विकास दृष्टिगत होता है।

3.4 उपनिवेशवाद

औद्योगिक उत्पादन की तीव्र गति ने यूरोप में तीव्र औद्योगिक आर्थिक विकास के साथ एक बड़े बाजार और उत्पादन के लिए कच्चे माल की मांग भी राजनैतिक इकाईयों के समक्ष प्रस्तुत की। इन इन दो प्रमुख कारकों ने यूरोप के प्रमुख औद्योगिक देशों को राजनैतिक विस्तार के कारण उपलब्ध

कराए जिसकी परिणति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के रूप में सामने आयी। कई चिन्तक और विद्वान साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को एक ही मानते हैं तथापि इनमें गहरा जुड़ाव होने के बाद भी इनमें कुछ प्रकृतिजन्य भिन्नता निहित है। यह तथ्य भी उतना ही सत्य है कि अठारहवीं में उभरने और उन्नीसवीं शताब्दी में विस्तार पाने वाले साम्राज्यवाद की उत्कंठा ने ही एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों को यूरोपीय देशों के उपनिवेश के रूप में परिणीत कर दिया।

उपनिवेशवाद की मूल चेतना आर्थिक रही जिसके केन्द्र में नए बाजार और संसाधनों की खोज बलवती भूमिका में रही। यद्यपि औपनिवेशिक व्यवस्थाओं में अधिकांशतः राज्यों के राजनैतिक संरचनाओं को भी अपने अधीन किया गया तथापि उपनिवेशवाद में यह आवश्यक नहीं कि साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा राजनैतिक संरचनाओं के नियंत्रण सीधे अपने हाथ में लिया जाय। उदाहरण के रूप में 1857 की महान क्रांति से पूर्व भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की औपनिवेशिक गतिविधियां तो चल रहीं थीं तथापि शासन का सीधे तौर पर नियंत्रण उनके हाथ में नहीं था जो कि 1857 की महान क्रांति के पश्चात ब्रिटिश राज ने भारत की राजनैतिक सत्ता को सीधे तौर पर अपने अधीन कर लिया। उपनिवेशों की स्थापना में औद्योगिक राज्यों की राज्य संरक्षित कम्पनियों की बहुत बड़ी भूमिका रही, चाहे वह भारत भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी रही हो अथवा कोई अन्य। सिसिल रोड्स, जिसने की डी बियर्स माइनिंग कम्पनी की स्थापना की ने अपने नाम पर ही औपनिवेशिक देश का नाम रोडेशिया रखा। औपनिवेशिक प्रभावों के इस प्रकार के अनेक उदाहरण इतिहास में विद्यमान हैं जिनसे उपनिवेशवाद के प्रभाव का संकेत मिलता है। राबर्ट यंग के अनुसार साम्राज्यवाद; राज्य की एक नीति के रूप में केन्द्र की संरचना से कार्य करते हुए वैचारिक और आर्थिक कारणों से विकसित होता है जबकि उपनिवेशवाद का मन्तव्य वाणिज्यिक हितों में निहित होता है। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद की ही एक अभिव्यक्ति के रूप में दिखायी देती है। साम्राज्यवाद में उपनिवेशवाद का अंश और प्रभाव तो दिखता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उपनिवेशवाद के केन्द्र में राजनैतिक सत्ता विद्यमान हो। उपनिवेशवाद विशुद्ध रूप से बाजार के नियमों से संचालित और प्रेरित है जिसमें अधिकाधिक उत्पादन के लिए संसाधनों का दोहन तथा अधिकाधिक लाभ के लिए तैयार माल की खपत के लिए बाजार का निरंतर विस्तार निहित है। उपनिवेश की इकाईयां, सामान्यतया केन्द्र से दूर अवस्थित होती हैं और केन्द्र उनका अधिकतम प्रयोग अपने वाणिज्यिक हितों के लिए करता है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर और बीसवीं सदी के मध्य तक का दौर साम्राज्यों की प्रतिस्पर्धा और औपनिवेशिक व्यवस्था का दौर रहा जिसमें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरीका के अधिकांश देश विभिन्न यूरोपीय औद्योगिक राजनैतिक इकाईयों के उपनिवेश के रूप में रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ ही औपनिवेशिक व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप का प्रभाव वैश्विक व्यवस्था से कम हुआ और नयी विश्व-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

3.5 साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का प्रभाव

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के दौर ने सम्पूर्ण वैश्विक व्यवस्था को आमूलचूल रूप से प्रभावित किया। सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि, औद्योगिक क्रांति और उत्पादन की प्रक्रिया के बदलाव ने यूरोप से निकल कर पूरे वैश्विक व्यवस्था को अपने प्रभाव में ले लिया। उत्पादन की प्रक्रिया में बदलाव तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रभाव के साथ ही औपनिवेशिक इकाईयो के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचनाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा जिससे कालांतर में राजनैतिक और आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित हुयी। यद्यपि साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद ने उत्पादन की प्रक्रिया में बदलाव तो किया, किन्तु यह बदलाव अधिकाधिक साम्राज्यवादी राज्यों के हितों पर ही अवलम्बित रहा। औपनिवेशिक इकाईयों के भौतिक और मानवीय संसाधनों के अधिकाधिक दोहन ने उन्हें विकास के दौड़ में बहुत पीछे कर दिया। नस्लीय भेदभाव, रंगभेद, दुराचार आदि उनके शोषण के सामाजिक पक्ष के रूप में दिखायी देते हैं, जिसने औपनिवेशिक इकाईयों और उनमें रहने वाले लोगों की गरिमा को ठेस ही नहीं पहुंचायी अपितु उनमें हीन भाव भी पैदा किया। औपनिवेशिक इकाईयां अपने साम्राज्यवादी राज्यों के राजनीतिक और वाणिज्यिक हितों के संवर्धन के उपकरण और साधन के रूप में ही प्रयोग होती रहीं। उत्तर और दक्षिण राज्यों का वर्गीकरण, तृतीय विश्व जैसी संकल्पना भी इसी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का परिणाम रही। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के फलस्वरूप ही यूरोपीय समाज के आधुनिक मूल्य भी इन औपनिवेशिक समाजों के मूल्य व्यवस्था का हिस्सा बनते गए जो कि कालांतर में इनकी स्वतंत्रता के आधार बने। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के प्रवृत्ति ने न सिर्फ उस कालखण्ड को प्रभावित किया अपितु आने वाला भविष्य भी उससे प्रभावित प्रभावित हुआ। वर्तमान में अधिकांश राज्यों की राजनैतिक और प्रशासनिक संरचना तथा उनके आर्थिक मॉडल पर औपनिवेशिक काल का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन प्रकारों का वर्णन किया है-

1. राजनीतिक उपनिवेशवाद
2. आर्थिक दृष्टि से पराधीन देश तथा
3. पिछलग्गू देश

उपनिवेशवाद का वह स्वरूप जिसमें राजनैतिक संरचना किसी अन्य सर्वोच्च सम्प्रभु सत्ता के अधीन होती है तथा समस्त नीतिगत निर्णय सर्वोच्च सत्ता द्वारा किए जाते हैं। इस औपनिवेशिक व्यवस्था में निर्णय केवल राजनीतिक सीमा तक नहीं लिए जाते अपितु समस्त आर्थिक-सामाजिक निर्णय भी इसी सत्ता द्वारा लिया जाता है। उपनिवेशवाद का यह स्वरूप राजनीतिक उपनिवेशवाद कहलाता है। 18वीं से लेकर 20वीं सदी के मध्य तक के अधिकांश उपनिवेशवाद का स्वरूप इसी प्रकार का था।

आर्थिक रूप से पराधीन देश, राजनैतिक रूप से स्वतंत्र तो होते हैं किन्तु अपने आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों पर निर्भर होते हैं। आर्थिक रूप से निर्भरता इन राज्यों को विकसित राज्यों के

प्रभाव में कार्य करने को विवश कर देती है। इन देशों का आर्थिक पिछड़ापन और निर्धनता इनकी राजनैतिक अस्थिरता का कारक है। इन राज्यों के आर्थिक रूप से पराश्रित होने के कारण, इसमें रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति और जनजीवन भी सीधे तौर पर साम्राज्यवादी विकसित राज्यों के हाथों से नियंत्रित होता है। इन देशों में कार्य कर रहे राजनैतिक सरकारों को हमेशा यह भय होता है कि, अपने आर्थिक प्रभाव के कारण विकसित देशों में यह क्षमता होती है कि वे उनकी राजनैतिक सत्ता मे कभी भी दखल देकर परिवर्तन कर सकते हैं। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश इस प्रकार की आर्थिक पराधीनता के शिकार हैं।

इस प्रकार के राष्ट्र, वो राष्ट्र हैं जो औपचारिक रूप से ही केवल स्वतंत्र होते हैं। ऐसे राज्य; राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही रूपों में किसी अन्य सत्ता के अधीन कार्य करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इनका विशेष प्रभाव नहीं होता और इनकी स्थिति अपने साम्राज्यवादी आकाओं के निर्देशों के पालन तक सीमित होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत और पाश्चात्य खेमे के बहुत से देश इसी श्रेणी में थे। इस प्रकार राज्यों की अलग-अलग परिस्थिति और क्षमता के अनुरूप उपनिवेशवाद का स्वरूप बदलता रहा है। बदलते हुए स्वरूप में भी इस बात की एकरूपता थी कि, औपनिवेशिक व्यवस्था एक शोषण की व्यवस्था थी जिसमें वर्चस्व की स्थिति में होने वाले राज्यों द्वारा औपनिवेशिक इकाईयों का अलग-अलग प्रकार से अपने हितों के लिए अधिकाधिक दोहन किया जाता था।

अभ्यास प्रश्न

1.औद्योगिक क्रांति की शुरूआत किस देश से मानी जाती है ?

2.इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद) शब्द की व्युतपत्ति किस भाषा और शब्द से हुयी है ?

3.साम्राज्यवाद के संदर्भ में केन्द्र और परिधि का सिद्धांत किस विद्वान ने दिया है ?

4.1857 की क्रांति से पूर्व भारत में कौन सी औपनिवेशिक कम्पनी कार्य कर रही थी ?

5.औपनिवेशिक व्यवस्था का अंत कब माना जाता है ?

6.आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के कितने प्रकारों का वर्णन किया है ?

3.6. सारांश

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति औद्योगिक क्रांति के एक स्वभाविक परिणाम के रूप में सामने आयी। यद्यपि साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति पहले भी राजनैतिक महत्वाकांक्षा के रूप में दिखायी देती रही है, किन्तु अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के इस घटनाक्रम की विशेषता यह रही कि इसके प्रेरक राजनैतिक से ज्यादा आर्थिक कारक रहे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह रही कि, साम्राज्यवाद के विस्तार की गति पूर्व की तुलना में अत्यधिक तीव्र थी और जिसका उद्देश्य अपनी भौगोलिक सीमाओं से दूर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अधिकाधिक देशों को अपने उपनिवेश के रूप में विजित करते हुए अपना राजनैतिक वर्चस्व स्थापित करना था। औद्योगिक क्रांति की उत्प्रेरणा से जनित इस प्रवृत्ति के नकारात्मक और

सकारात्मक पक्ष के अपने तर्क हो सकते हैं किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसने दो सदी से ज्यादा समय तक प्रत्यक्ष रूप से और आने वाले वर्षों की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और व्यवस्था को परोक्ष रूप से प्रभावित किया है।

3.7. शब्दावली

साम्राज्यवाद- साम्राज्यवाद का अर्थ अपनी सीमाओं और साम्राज्य का विस्तार करते हुए दूसरे राज्य की सम्प्रभुता और उसके अन्य निर्णयकारी संरचनाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित करना है।

उपनिवेशवाद- उपनिवेशवाद विशुद्ध रूप से बाजार के नियमों से संचालित और प्रेरित है जिसमें अधिकाधिक उत्पादन के लिए संसाधनों का दोहन तथा अधिकाधिक लाभ के लिए तैयार माल की खपत के लिए बाजार का निरंतर विस्तार निहित है।

पुर्नजागरण- यूरोप में मध्यकाल के पश्चात मानवीय मूल्य और तार्किकता को केन्द्र में रखकर हुए बौद्धिक आंदोलन को पुर्नजागरण की संज्ञा दी गयी।

औद्योगिक क्रांति- कृषि आधारित उत्पादन की प्रक्रिया से मशीनों की सहायता से औद्योगिक उत्पादन की तरफ रूपांतरण की प्रक्रिया औद्योगिक क्रांति के रूप में जानी जाती है।

3.8.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.,इंगलैण्ड,2.लैटिन भाषा के 'इम्पीरियम' शब्द से,3. एडवर्ड सइद,4.ईस्ट इंडिया कम्पनी,5.द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात,6.तीन

3.9.संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, महेन्द्र कुमार

2.अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वी0एन0 खन्ना

3.10.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पॉल विलकिन्सन

2.ए थ्योरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, महेन्द्र कुमार

3.यूरोप का इतिहास, लाल बहादुर वर्मा

4.द थर्ड वेव, सैमुल पी हंटिग्टन

5.कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज्म, एडवर्ड सइद

3.11निबंधात्मक प्रश्न

1.साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप सामने आयी। इस कथन की समीक्षा करें।

2.साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

3.साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव की समीक्षा करें।

इकाई - 4 नव उपनिवेशवाद- बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के संदर्भ में

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3. उपनिवेशवाद

4.4 नव-उपनिवेशवाद

4.5 बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

4.6 सारांश

4.7. शब्दावली

4.8. अभ्यास प्रश्नोंके उत्तर

4.9.संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.10.सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

4.11.निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

अठारहवीं से लेकर बीसवीं सदी तक उपनिवेशवाद की व्यवस्था ने निर्विवाद रूप से वैश्विक व्यवस्था को प्रभावित किया। उपनिवेशवाद ने न सिर्फ उन राज्यों की आर्थिक और राजनैतिक संरचना को प्रभावित किया बल्कि उनकी सामाजिक व्यवस्था और मूल्यों को भी प्रभावित किया। ये प्रभाव इतने गहरे हैं कि औपनिवेशिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद भी उनका असर दिखायी देता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात औपचारिक रूप से औपनिवेशिक शासन व्यवस्था का अंत हो गया किन्तु उसके तत्व उन औपनिवेशिक इकाईयों में आज भी विद्यमान दिखायी देते हैं। विकास की इस आधुनिक धारा के आलोचक न सिर्फ वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की तीखी आलोचना करते हैं अपितु यह भी मानते हैं कि, विकास के स्तर पर यह विभाजन भी साम्राज्यवादी राज्यों की देन है जिन्होंने अपने अंधाधुंध विकास के लिए औपनिवेशिक राज्यों के संसाधनों का दोहन किया और आज भी इन राज्यों के विकास के मार्ग के अवरोध बन कर खड़े हैं। विचारकों की एक धारा यह स्वीकार करती है और तर्क प्रस्तुत करती है कि, औपचारिक औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की समाप्ति के बावजूद भी परोक्ष रूप से साम्राज्यवादी संरचनाओं ने अपना वर्चस्व और आधिपत्य इन औपनिवेशिक इकाईयों पर बनाए रखा है। बहुराष्ट्रीय निगम, इस वर्चस्व और आधिपत्य स्थापना के सबसे बड़े उपकरण के रूप में राज्यों के द्वारा प्रयोग में लाए जा रहे हैं। पूंजीवादी संरचना के इस नवीन प्रवृत्ति को विचारकों द्वारा नव-उपनिवेशवाद की संज्ञा दी गयी है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- उपनिवेशवाद के प्रभावों की पहचान कर सकेंगे।
- वैश्विक व्यवस्था के आर्थिक विकास के मॉडल को समझने में सहायता प्राप्त होगी।
- नव-उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति को समझ सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका समझ सकेंगे।

4.3 उपनिवेशवाद

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप तीव्र आर्थिक विकास के लिए अधिक से अधिक संसाधनों की मांग और बाजारवाद की जरूरत ने उपनिवेशवाद के पनपने के लिए एक उर्वर भूमि उपलब्ध कराया। यूरोप के औद्योगिक राज्यों ने जिनके यहां पूंजीवाद का विकास हो रहा था या हो गया था; ने अपनी औद्योगिक विकास की गति को बनाए रखने तथा तेजी से विकसित हो रहे औद्योगिक इकाईयों को संसाधन तथा बाजार उपलब्ध कराने के लिए नए स्थानों की तलाश की और अपना आर्थिक तथा क्रमशः शनै शनै राजनैतिक वर्चस्व स्थापित किया। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की एक अभिव्यक्ति के रूप में व्यक्त हुयी। इस औपनिवेशिक व्यवस्था की अन्य विशेषता, इसका यूरोपिय औद्योगिक केन्द्र से दूर होना रहा। यूरोप के ये औद्योगिक राज्य इनसे दूर होकर भी इन राज्यों पर अपना वर्चस्व हर रूप में स्थापित किए हुए थे। आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन प्रकारों का वर्णन किया है-

राजनीतिक उपनिवेशवाद- उपनिवेशवाद का वह स्वरूप जिसमें राजनैतिक संरचना किसी अन्य सर्वोच्च सम्प्रभु सत्ता के अधीन होती है तथा समस्त नीतिगत निर्णय सर्वोच्च सत्ता द्वारा किए जाते हैं। इस औपनिवेशिक व्यवस्था में निर्णय केवल राजनीतिक सीमा तक नहीं लिए जाते अपितु समस्त आर्थिक-सामाजिक निर्णय भी इसी सत्ता द्वारा लिया जाता है। उपनिवेशवाद का यह स्वरूप राजनीतिक उपनिवेशवाद कहलाता है। 18वीं से लेकर 20वीं सदी के मध्य तक के अधिकांश उपनिवेशवाद का स्वरूप इसी प्रकार का था।

आर्थिक दृष्टि से पराधीन देश- आर्थिक रूप से पराधीन देश, राजनैतिक रूप से स्वतंत्र तो होते हैं किन्तु अपने आर्थिक विकास के लिए विकसित देशों पर निर्भर होते हैं। आर्थिक रूप से निर्भरता इन राज्यों को विकसित राज्यों के प्रभाव में कार्य करने को विवश कर देती है। इन देशों का आर्थिक पिछड़ापन और निर्धनता इनकी राजनैतिक अस्थिरता का कारक है। इन राज्यों के आर्थिक रूप से पराश्रित होने के कारण, इसमें रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति और जनजीवन भी सीधे तौर पर साम्राज्यवादी विकसित राज्यों के हाथों से नियंत्रित होता है। इन देशों में कार्य कर रहे राजनैतिक सरकारों को हमेशा यह भय होता है कि, अपने आर्थिक प्रभाव के कारण विकसित देशों में यह क्षमता होती है कि वे उनकी राजनैतिक सत्ता मे कभी भी दखल देकर परिवर्तन कर सकते हैं। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश इस प्रकार की आर्थिक पराधीनता के शिकार हैं।

पिछलग्गू देश -इस प्रकार के राष्ट्र, वो राष्ट्र हैं जो औपचारिक रूप से ही केवल स्वतंत्र होते हैं। ऐसे राज्य; राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही रूपों में किसी अन्य सत्ता के अधीन कार्य करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इनका विशेष प्रभाव नहीं होता और इनकी स्थिति अपने साम्राज्यवादी आकाओं के निर्देशों के पालन तक सीमित होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत और पाश्चात्य खेमे के बहुत से देश इसी श्रेणी में थे। इस प्रकार राज्यों की अलग-अलग परिस्थिति और

क्षमता के अनुरूप उपनिवेशवाद का स्वरूप बदलता रहा है। बदलते हुए स्वरूप में भी इस बात की एकरूपता थी कि, औपनिवेशिक व्यवस्था एक शोषण की व्यवस्था थी जिसमें वर्चस्व की स्थिति में होने वाले राज्यों द्वारा औपनिवेशिक इकाईयों का अलग-अलग प्रकार से अपने हितों के लिए अधिकाधिक दोहन किया जाता था।

उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति के केन्द्र में विशुद्ध रूप से वाणिज्यिक हित निहित थे और उनपर स्थापित राजनैतिक और अन्य नियंत्रण भी साम्राज्यवादी वाणिज्यिक हितों को पुष्ट और उनका अधिकाधिक संवर्धन करने के निमित्त था। उपनिवेशवाद की प्रक्रिया प्रभाव और वर्चस्व स्थापित करने की प्रक्रिया थी जिसमें औपनिवेशिक लोगों की जीवन पद्धति, रहन-सहन, खान-पान, सामाजिक जीवन और उनकी जरूरतें भी इस प्रकार से निर्धारित करने की कोशिश की गयी जिससे वो साम्राज्यवादी औद्योगिक हितों की पुष्टि कर सकें। औपनिवेशिक देशों के लिए साम्राज्यवादी नीतियां भी इस तरह निर्धारित की गयीं कि वे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से औद्योगिक उत्पादन के संसाधन उपलब्ध करा सकें और उन्हीं उत्पादित वस्तुओं को ऊंची दर पर खरीदने के लिए एक बाजार उपलब्ध करा सकें। साम्राज्यवादी औद्योगिक इकाइयों के द्वारा संसाधनों का दोहन, बिना कोई मूल्य चुकाए अथवा बहुत कम मूल्य पर किया जाता था। औपनिवेशिक व्यवस्था में विवशता का ऐसा जाल बुना गया जिससे औपनिवेशिक देशों में रहने वाले लोग निरंतर गरीब से गरीब होते चले गए और उनकी कीमत पर साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं की पूंजी और लाभ में कई गुणा बढ़ोत्तरी होने लगी। विकास के कई सिद्धांतकारों ने, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को केन्द्र के ऊपर निर्भर और संचालित परिधि के रूप में भी देखा है। उपनिवेशवाद की प्रक्रिया एक संगठित स्वरूप में इस प्रकार नियोजित थी कि, उसकी औपनिवेशिक इकाईयां पूर्णतया साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं के अधीन कार्य कर रही थीं। यद्यपि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन व्यवस्था का उन्मूलन हो गया और ऐतिहासिक रूप से नवोदित राष्ट्रों का अभ्युदय हुआ जो अभी तक साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं के अधीन थे। इन नवोदित राष्ट्रों को औपचारिक राजनैतिक स्वाधीनता तो प्राप्त हो गयी किन्तु एक लम्बे औपनिवेशिक शासन के दौरान पड़े अप्रत्यक्ष प्रभाव, उपनिवेशवाद के अवशेष के रूप में अभी भी विद्यमान हैं जो सामान्य जीवन पद्धति का अनिवार्य हिस्सा हो गए हैं। इस परोक्ष प्रभाव के अतिरिक्त भी साम्राज्यवादी शासन व्यवस्थाओं की प्रवृत्ति मूल रूप से वही है। उनके द्वारा प्रत्यक्ष रूप से भी अलग-अलग तरीकों और पद्धति से अविकसित और विकासशील देशों के संसाधनों का दोहन और उनका बाजार के रूप में प्रयोग किया जा रहा है; जो कि मूल उपनिवेशवादी व्यवस्था का गुण था। औपचारिक औपनिवेशिक व्यवस्था की समाप्ति के बाद उपनिवेशवाद की उभरी इन नवीन प्रवृत्तियों को नव-उपनिवेशवाद की संज्ञा दी जाती है।

4.4 नव-उपनिवेशवाद

औपनिवेशिक इकाईयों में बढ़ रही स्वतंत्रता की चेतना और उसको रोक पाने में असमर्थ हो रही साम्राज्यवादी शक्तियों की क्षीण होती क्षमता के फलस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक औपनिवेशिक शासन का पराभव भी लगभग निश्चित हो गया था। दो विश्वयुद्धों के कारण साम्राज्यवादी शक्तियों की अर्थव्यवस्था इतनी सक्षम नहीं रहीं कि, वो औपनिवेशिक इकाईयों पर अपना नियंत्रण पूर्व की भांति बनाए रख सकें। औपनिवेशिक व्यवस्था की समाप्ति के साथ साम्राज्यवाद का औपचारिक आवरण तो हट गया किन्तु वास्तविक संदर्भों में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति नयी तकनीकों एवं तरीकों से और गहरी हो गयी। ये नवीन प्रयास साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अपनी क्षीण हुयी आर्थिक व्यवस्था को वापस पटरी पर लाने का यत्न था। साम्राज्यवादी शक्तियां इस बात से आश्वस्त थीं कि, नवोदित राष्ट्रों के आर्थिक विकास की आवश्यकता और उत्कंठा का इस्तेमाल उनके द्वारा उनकी नवीन आर्थिक नीतियों और उसके द्वारा नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास में सहायक हो सकता है। इस प्रकार वे पूर्व की भांति इन औपनिवेशिक राज्यों से आर्थिक लाभ ले सकते हैं। उपनिवेशवाद की परिभाषा के अनुरूप यदि, उसका मूल तत्व वाणिज्यिक वर्चस्व स्थापित करते हुए औपनिवेशिक इकाईयों के संसाधनों का अपनी शर्तों पर दोहन और उसका बाजार के रूप में प्रयोग है; तो वर्तमान आर्थिक व्यवस्था और संरचना में निश्चित ही साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के तत्व विद्यमान हैं। इस नए उपनिवेशवाद का स्वरूप पूर्व से इस संदर्भ में अलग है कि, पहले उपनिवेश की संरचनाएं प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत थीं किन्तु वर्तमान व्यवस्था में अधिकांश संरचनाएं परोक्ष रूप से अपने वाणिज्यिक हितों का संवर्धन करती हैं जो सामान्य रूप से पहचान में नहीं आती। इनकी पहचान, इनकी प्रवृत्ति और प्रकृति से ही की जा सकती है। उपनिवेशवाद का यह नया स्वरूप नव-उपनिवेशवाद के रूप में जाना जाता है। विकसित देशों द्वारा अविकसित और विकासशील देशों के आन्तरिक मामलों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किए जाने वाले हस्तक्षेप को नव-उपनिवेशवाद कहा जाता है। नव-उपनिवेशवाद से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जिसमें कोई देश प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त प्रतीत होने पर भी परोक्ष रूप से उनके निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य होता है।

नव-उपनिवेशवाद की धारणा को मानने वाले चिन्तकों का यह मानना है कि, पूर्व में उपनिवेशी शक्तियों ने जो आर्थिक ढ़ांचा बना रखा है, उनका प्रयोग आज भी उपनिवेशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में प्रयोग किया जा रहा है। नव-उपनिवेशवाद सिद्धांत के सबसे बड़े प्रवर्तक के रूप में अफ्रीकी चिंतक और घाना के प्रथम राष्ट्रपति क्वामे एनक्रुमा का नाम अग्रणी है। उनके अनुसार नव-उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद की अंतिम अवस्था है। एनक्रुमा ने 1965 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नियो-कॉलोनियलिज्मः द लास्ट स्टेज ऑफ इम्पीरियलिज्म' में नव-उपनिवेशवाद संबंधी अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा कि 'नव-उपनिवेशवाद का सार यह है कि उपनिवेशित राज्य सिद्धांत में तो स्वतंत्र हैं और उसे अंतर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता के लिए सभी बाहरी साजो-सामान मिले हुए

हैं। परन्तु वास्तव में इनकी आर्थिक व्यवस्था बाहर से निर्देशित होती है।' अंतर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धांतकार जैक्सन ने उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों को 'अर्द्ध-राज्य' की संज्ञा दी है।

बीसवीं सदी के पांचवे दशक के उत्तरार्द्ध और छठे दशक की शुरूआत में भी ऑल-अफ्रीकन पीपुल्स कॉन्फ्रेंस की बैठकों में नव-उपनिवेशवाद पर काफी चर्चा हुयी। फ्रांस द्वारा अपने पूर्व-उपनिवेशों को कम्युनिटी ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स के रूप में अपने अधीन बनाए रखने के प्रयास के खिलाफ इस संगठन ने 'रिजोल्यूशन ऑन नियो-कॉलोनियलिज्म' का प्रस्ताव भी पारित किया। आर्थिक आवश्यकताओं के मध्य अपनी गरिमा और स्वतंत्रता को बनाए रखने का यक्ष प्रश्न नवोदित राष्ट्रों के समक्ष था। नव-स्वतंत्र देशों की विकसित साम्राज्यवादी देशों पर आर्थिक निर्भरता एक नए आर्थिक साम्राज्यवाद को जन्म दे रही थी जिसमें नवोदित राष्ट्रों को आर्थिक विकास और सहायता के नाम पर अनेक समझौते करने आवश्यक थे जो साम्राज्यवादी विकसित देशों के वाणिज्यिक और आर्थिक हितों के साथ उनके राजनैतिक समर्थन पर टिकी हुयी थी। क्यूबा के क्रांतिकारी नेता चे गुवेरा द्वारा, गरीब देशों पर इस प्रकार के साम्राज्यवादी प्रभुत्व को नव-उपनिवेशवाद की संज्ञा दी गयी। चे गुवेरा के अनुसार जिन देशों को 'कम विकसित' कहा जाता है वे वास्तव में औपनिवेशिक, अर्द्ध औपनिवेशिक अथवा पर-निर्भर देश हैं। यह अल्प विकास की घटना, एक विकृत विकास है। इस विचारधारा का विस्तार करते हुए गुंदर फ्रेंक और इमैनुअल वालस्ट्रीन जैसे विचारकों ने क्रमशः निर्भरता सिद्धांत और विश्व व्यवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस धारा के विचारकों द्वारा यह माना गया कि, ब्रेटन वुड्स संस्थाओं का प्रयोग पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों द्वारा नव-उपनिवेशवाद के एक साधन के रूप में किया गया।

नव-उपनिवेशवाद के साधन-

इतिहास के विभिन्न घटनाक्रम इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि, औपनिवेशिक राज्यों की औपचारिक स्वतंत्रता के बावजूद भी साम्राज्यवादी राज्यों की यह मंशा कभी नहीं रही कि उन्हें अपने प्रभाव से वास्तविक रूप से मुक्त किया जाय। अपने इसी नियंत्रण को बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी विकसित देशों द्वारा नव-उपनिवेशवाद के विभिन्न साधन अपनाए गए।

1.आर्थिक सहायता या डॉलर डिप्लोमेसी- औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के पश्चात नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नहीं रहे कि वे अपना स्वतंत्र आर्थिक विकास कर सकें। विकास की मुख्य धारा में आने के लिए उनको सहयोग और समर्थन की जरूरत थी। औपनिवेशिक दासता से मुक्त नवोदित राष्ट्रों की आर्थिक सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा डॉलर की कूटनीति का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर अपना परोक्ष नियंत्रण और प्रभुत्व स्थापित किया गया। नव-उपनिवेशवाद का यह सबसे कारगर हथियार रहा।

2.बहुराष्ट्रीय निगम- वर्तमान वैश्विक आर्थिक संरचनाओं को बनाए रखने में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। बहुराष्ट्रीय निगम, आर्थिक निवेश और अन्य आर्थिक प्रक्रियाओं द्वारा राज्यों की अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। अपनी इसी क्षमता के आधार पर ये राज्यों की नीतियों को न सिर्फ प्रभावित करते हैं अपितु अपने हितों के अनुरूप नीतियों का निर्माण भी करवाते हैं तथा वहाँ के संसाधन और बाजार पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं। कुछ बहुराष्ट्रीय निगमों की अर्थव्यवस्था का आकार इतना बड़ा है कि कई राज्यों की अर्थव्यवस्था उसमें समाहित हो सकती है। बहुराष्ट्रीय निगम साम्राज्यवादी विकसित राज्यों के एक उपकरण के रूप में कार्य करते हैं और अपने बाजार के विस्तार और हित के लिए राज्यों को दबाव में लाकर अपना हित पूरा करते हैं।

3.अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं- अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं अथवा ब्रेटन-वुड्स संस्थाएं विकसित साम्राज्यवादी देशों के एक उपकरण के रूप में कार्य करती हैं। इनकी नीतियों और शर्तों का निर्धारण विकसित राज्यों द्वारा उनके हितों के अनुरूप किया जाता है तथा इनसे सहायता प्राप्त करने वाले राज्यों को इनकी नीतियों के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता है। इन संस्थाओं की नीतियां कठोर शर्तों के साथ नव-उपनिवेशवाद की धारणा का ही पोषण करती हैं। तृतीय विश्व के देशों द्वारा नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग भी इसी कारण से है कि, किस प्रकार इन संस्थाओं के नव-औपनिवेशिक शर्तों से बचाते हुए, आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जाय।

4.सैन्य आपूर्ति- बहुत सारे नवोदित राष्ट्रों की सुरक्षा चिन्ताओं का दोहन भी नव-उपनिवेशवाद को पुष्ट करने के साधन के रूप में दृष्टिगत होता है। सामरिक और सैन्य आपूर्ति के माध्यम से भी इन राज्यों पर साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक नीतियां थोपी जाती हैं जिसके अनेकों उदाहरण दिखायी देते हैं। एण्डी सिंगर का यह चित्र ज्यादा सटीक रूप से इस व्यवस्था का चित्रण करता हुआ दिखायी देता है।

4.5 नव-उपनिवेश एवं बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

साम्राज्यवादी विकसित राष्ट्रों द्वारा वैश्विक आर्थिक संरचना और आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का पूरा एक तंत्र बिछाया गया है। बहुराष्ट्रीय निगम सामान्यतया विकसित राज्यों की वो वाणिज्यिक इकाईयां हैं जो अपने व्यापार और वाणिज्यिक हितों के लिए अनेक राज्यों में अपने क्षेत्राधिकार का विस्तार किए हुए हैं। सामान्यतया, बहुराष्ट्रीय निगमों को साम्राज्यवादी विकसित राज्यों का समर्थन प्राप्त होता है और वो अपनी कार्यपद्धति द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साम्राज्यवादी राज्यों के हितों का संवर्धन करती हैं। अपनी आर्थिक क्षमता और अत्यधिक कार्य वृहत्तता के कारण ये अपने क्षेत्राधिकार में काफी विस्तृत होते हैं और कई बार हितों में टकराहट होने की स्थिति में राज्यों को या तो इनके दबाव में कार्य करना पड़ता है अथवा कई बार

इनके द्वारा राज्य के हितों और निर्देशों की अवहेलना कर दी जाती है। बहुराष्ट्रीय निगम, स्वयं को कई बार राज्य की सम्प्रभुता और सीमा के दायरे से बाहर समझते हैं और अपने वाणिज्यिक हितों के संवर्धन के लिए, राज्य के हितों की बलि दे देते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम, आर्थिक निवेश और अन्य आर्थिक प्रक्रियाओं द्वारा राज्यों की अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। अपनी इसी क्षमता के आधार पर ये राज्यों की नीतियों को न सिर्फ प्रभावित करते हैं अपितु अपने हितों के अनुरूप नीतियों का निर्माण भी करवाते हैं तथा वहाँ के संसाधन और बाजार पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं। इनकी यही क्षमता जिसके द्वारा ये राज्यों के आर्थिक व्यवस्था और विकास को प्रभावित करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, इनकी मनमानी करने का अवसर प्रदान करती है। आज राज्यों द्वारा अधिकाधिक निवेश प्राप्त करने की होड़ ने बहुराष्ट्रीय निगमों को अत्यंत शक्तिशाली बना दिया है। ये बहुराष्ट्रीय निगम, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने मातृ साम्राज्यवादी राजनीतिक इकाईयों के निर्देशों का पालन करते हुए उनके हितों का संवर्धन करती हैं। पूर्व की औपनिवेशिक प्रक्रिया की तरह साम्राज्यवादी राज्यों की कम्पनियों की तरह बहुराष्ट्रीय निगम कार्य करते हुए दिखायी दे रहे हैं। व्यापार के बदलते स्वरूप ने इस नव-उपनिवेशवाद के प्रभाव और स्वरूप को और भी तीक्ष्ण और गहरा कर दिया है। इनका संस्थानीकरण, न सिर्फ अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संरचनाओं के माध्यम से हो रहा है अपितु उस राज्य के द्वारा भी किया जा रहा है जहाँ ये कार्य करते हुए, उसके संसाधनों का दोहन भी कर रहे हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों का उद्देश्य निर्विवाद रूप से अधिक से अधिक लाभ अर्जित करना होता है। विकासशील देशों में इनके द्वारा पूंजी निवेश करके पूंजीवादी देशों के लिए कच्चा माल और प्राथमिक उत्पादन की गारण्टी प्रदान की जाती है। विकासशील देशों में सस्ते मानवीय और भौतिक संसाधनों की उपलब्धता के कारण अधिकतम लाभ की सम्भावना होती है। ये बहुराष्ट्रीय निगम, उत्पादन के विभिन्न स्तरों सहित उसके वितरण पर अपना आधिपत्य स्थापित कर उसकी लाभ की संभावना का निर्धारण करते हैं। बहुराष्ट्रीय निगम आर्थिक संरचनाओं पर अपना एकाधिकार स्थापित कर, नीति निर्धारण की प्रक्रिया पर भी अपना परोक्ष नियंत्रण स्थापित करते हैं। अपने लाभ को उच्चतम स्तर पर ले जाने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा राज्य की नीतियों में भी हस्तक्षेप किया जाता है। बहुराष्ट्रीय निगम नव-उपनिवेशवाद के सर्वाधिक शक्तिशाली साधन हैं जो साम्राज्यवादी राज्यों के आधुनिक उपकरण के रूप में कार्य कर रहे हैं। साम्राज्यवादी राज्यों के संरक्षण से बहुराष्ट्रीय निगम एक ऐसे कर्ता के रूप में कार्य कर रहे हैं जो स्वयं को राज्य की सम्प्रभुता की परिधि से अलग मानते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1.उपनिवेशवाद, राज्यों के वाणिज्यिक हितों से जुड़ा है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

2.नव-उपनिवेशवाद, द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व की प्रवृत्ति है।यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

3.उपनिवेशवाद के एक स्वरूप के रूप में पिछलग्गू देश की संकल्पना किस विचारक द्वारा प्रस्तुत की गयी ?

4.डॉलर डिप्लोमेसी क्या है ?

5.नियो-कॉलोनियलिज्मः द लास्ट स्टेज ऑफ इम्पीरियलिज्म किसकी रचना है ?

6.किस अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांतकार ने उत्तर-औपनिवेशिक राज्यों को अर्द्ध-राज्य की संज्ञा दी है ?

7.किस क्रांतिकारी विचारक द्वारा नव-उपनिवेशवाद की धारणा को प्रस्तुत किया गया ?

4.6. सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात संभवतः जिस समतामूलक वैश्विक व्यवस्था की कल्पना की गयी थी, वो कल्पना मात्र ही रह गयी। नवोदित राष्ट्रों की तीव्र आर्थिक विकास और स्वाधीनता की उत्कंठा के बीच साम्राज्यवादी विकसित राज्यों द्वारा अपना प्रभाव पूर्ववत बनाए रखने के प्रयासों ने एक भिन्न प्रकार की वैश्विक व्यवस्था का निर्माण किया। शीत युद्ध की राजनीति के बीच वर्चस्व के जंग ने वैश्विक प्रतिस्पर्धा को दूसरा स्वरूप प्रदान कर दिया जिसमें नवोदित राष्ट्र एक मोहरे के रूप में प्रयुक्त किए जाने लगे। इस प्रतिस्पर्धा में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ में विकसित राज्यों द्वारा आर्थिक सहायता की तकनीक एवं अन्य प्रलोभनों द्वारा नवोदित राष्ट्रों को अपने पक्ष में खड़ा कर उनकी नीतियों को भी प्रभावित करने की होड़ सी मच गयी। इसी प्रतिस्पर्धा ने नव-उपनिवेशवाद को जन्म दिया जो शनै शनै अलग-अलग साधनों एवं तकनीक के प्रयोग के माध्यम से वैश्विक आर्थिक और परोक्ष रूप से राजनैतिक ढ़ांचे के निर्माण का आधार बन गयी। उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति आज भी अपने मूल स्वरूप में साम्राज्यवादी इकाईयों की चेतना में विद्यमान है। आज भी विकासशील और अविकसित देशों के विकास के नाम पर अलग-अलग तरीकों से और अलग-अलग माध्यम से राज्यों के संसाधनों का दोहन और शोषण अनवरत रूप से जारी है। वैश्विक बाजारवाद और उसको प्रभावित करने वाली नीतियां ही आज राज्यों के परस्पर व्यवहार को निर्धारित कर रही हैं। नव-उपनिवेशवाद की ये संरचनाएं प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वैश्विक व्यवस्था और संरचनाओं को निरंतर प्रभावित कर रही हैं और अपनी उपादेयता वैश्विक व्यवस्था में इस तरह बनायी हैं कि वो इसके स्वभाविक अंग और आवश्यकता के रूप में दिखायी देते हैं।

4.7 शब्दावली

साम्राज्यवाद- साम्राज्यवाद का अर्थ अपनी सीमाओं और साम्राज्य का विस्तार करते हुए दूसरे राज्य की सम्प्रभुता और उसके अन्य निर्णयकारी संरचनाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित करना है।

उपनिवेशवाद- उपनिवेशवाद विशुद्ध रूप से बाजार के नियमों से संचालित और प्रेरित है जिसमें अधिकाधिक उत्पादन के लिए संसाधनों का दोहन तथा अधिकाधिक लाभ के लिए तैयार माल की खपत के लिए बाजार का निरंतर विस्तार निहित है।

नव-उपनिवेशवाद- नव-उपनिवेशवाद से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जिसमें कोई देश प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त प्रतीत होने पर भी परोक्ष रूप से उनके निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य होता है।

बहुराष्ट्रीय निगम- बहुराष्ट्रीय निगम सामान्यतया विकसित राज्यों की वो वाणिज्यिक इकाईयां हैं जो अपने व्यापार और वाणिज्यिक हितों के लिए अनेक राज्यों में अपने क्षेत्राधिकार का विस्तार किए हुए हैं। सामान्यतया, बहुराष्ट्रीय निगमों को साम्राज्यवादी विकसित राज्यों का समर्थन प्राप्त होता है और वो अपनी कार्यपद्धति द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साम्राज्यवादी राज्यों के हितों का संवर्धन करती हैं।

ब्रेटन वुड्स संस्था- 1944 के ब्रेटन वुड्स समझौते के फलस्वरूप वैश्विक स्तर पर मौद्रिक और अन्य आर्थिक व्यवस्था को संचालित करने के उद्देश्य से जिन संस्थाओं का निर्माण किया गया, उन्हे ब्रेटन वुड्स संस्थाओं के रूप में भी जाना जाता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसी संस्था इसमें सर्वाधिक प्रमुख हैं।

4.8 अभ्यास प्रश्नोंके उत्तर

1.सत्य,2.असत्य,3.आर्गेन्सकी,4.विकसित देशों द्वारा पिछड़े राज्यों को आर्थिक सहायता से लुभाने की नीति।

5.क्वामे एनक्रुमा,6.जैक्सन,7.क्यूबा के क्रांतिकारी विचारक चे गुवेरा द्वारा

4.9संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, महेन्द्र कुमार

2.अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वी0एन0 खन्ना

4.10.सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पॉल विलकिन्सन

2.ए थ्योरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, महेन्द्र कुमार

3.यूरोप का इतिहास, लाल बहादुर वर्मा

4.द थर्ड वेव, सैमुल पी हंटिग्टन

5.कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज्म, एडवर्ड सइद

4.11.निबंधात्मक प्रश्न

1नव-उपनिवेशवाद की धारणा का विवेचन कतते हुए इसके प्रकृति की विवेचना करें।

2नव-उपनिवेशवाद एक काल्पनिक अवधारणा है। इस कथन की समीक्षा करें।

3नव-उपनिवेशवाद की प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए, नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रासंगिकता की समीक्षा करें।

4.नव-उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के साधनों का विश्लेषण करते हुए, बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका स्पष्ट करें।

इकाई -5 शक्ति संतुलन

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 शक्ति का अर्थ

5.4 शक्ति संतुलन

5.5 शक्ति संतुलन और अन्तर्राष्ट्रीय इकाईयां

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

5.11. निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अवधारणा सर्वाधिक स्पष्ट रूप में शक्ति की संकल्पना के साथ ही प्रस्फुटित होती दिखायी देती है। शक्ति संतुलन का सिद्धांत, शक्ति और शक्ति-संघर्ष की अवधारणा के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसके मूल में यह निहित है कि, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय किसी भी एक शक्ति को दूसरों से इतना अधिक शक्तिशाली बनने नहीं दिया जा सकता कि वह उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित कर सके। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार शक्ति की अवधारणा ही राजनीति का एकमात्र नियामक तत्व है। शक्ति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सबसे महत्वपूर्ण प्रत्ययों में से एक है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अवस्थित इकाईयों का व्यवहार काफी हद तक उनके धारित शक्ति और उसके सापेक्ष अन्य घटकों को प्रभावित करने की उनकी क्षमता पर निर्भर करता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी अन्य व्यवस्थाओं की तरह साम्य और संतुलन की प्रक्रिया निरंतर गतिमान रहती है। इस रूप में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की इकाईयां अपने शक्ति के सापेक्ष, हितों के अनुरूप अपने प्रतिस्पर्धी इकाईयों को निरंतर संतुलित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। शक्ति संतुलन का सिद्धांत प्राचीन समय से ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत सिद्धांत रहा है, जो भारतीय मनीषी कौटिल्य के मण्डल सिद्धांत में स्पष्ट रूप से इंगित है। शक्ति संतुलन का सिद्धांत, वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी सबसे अधिक प्रभावी और व्यावहारिक सिद्धांत है। अंतर्राष्ट्रीय फलक पर राज्यों के व्यवहार को समझने और उनको विश्लेषित करने के निमित्त, शक्ति संतुलन का सिद्धांत सबसे उपयुक्त सिद्धांत है । राज्यों के व्यवहार और उसमें निहित गतिशीलता के कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में शक्ति संतुलन का सिद्धांत और भी प्रासंगिक हो जाता है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में शक्ति की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और उसकी अंतः क्रियाओं को समझने में सहायता होगी।
- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अंतर्गत इकाईयों के यथार्थ व्यवहार को समझ सकेंगे।
- शक्ति संतुलन के संदर्भ में विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय इकाईयों के यथार्थ व्यवहार को समझ सकेंगे।

5.3 शक्ति का अर्थ

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी अवधारणा में शक्ति की अवधारणा केन्द्रीय तत्व है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में शक्ति का अर्थ है राजनीतिक शक्ति, जो विभिन्न रूपों में अपने आप को व्यक्त करती है। शक्ति की अवधारणा एक सापेक्ष अवधारणा है, जिसमें बहुत सारे घटक प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से शक्ति के तत्व को निर्धारित करते हैं। शक्ति की अवधारणा की व्यापकता और अनिवार्यता के बावजूद, शक्ति की अवधारणा को परिभाषित करना अत्यंत कठिन है। अलग-अलग संदर्भों और अलग-अलग परिस्थितियों में शक्ति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दिखायी देती है। शक्ति के भिन्न-भिन्न संदर्भ और परिभाषा होने के बाद भी इसका केन्द्रीय तत्व एक ही है। किसी भी इकाई द्वारा किसी अन्य इकाई को इस रूप में प्रभावित करने की क्षमता, जिसके द्वारा वह इकाई अपना वांछित करा सके, शक्ति है। शक्ति स्थूल सिद्धांत न होकर व्यावहारिक, गत्यात्मक और क्रियात्मक सिद्धांत है। शक्ति की अवधारणा स्थानीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त होती है। राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रकट स्वरूप, सत्ता के विविध रूपों एवं पक्षों में दृष्टिगत होता है। कौटिल्य के मण्डल सिद्धांत से लेकर मार्गेंथाऊ के सिद्धांत तक शक्ति का विश्लेषण दृष्टिगत होता है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के सिद्धांतों में 'दण्ड' (अथवा शक्ति) राज्य के महत्वपूर्ण घटकों में से एक है जिसके बिना राज्य की परिकल्पना पूर्ण नहीं हो सकती। मनु और कौटिल्य के साप्तांग सिद्धांत के साथ ही, प्राच्य दर्शन के अनेक ग्रंथों में राज्य के संदर्भ में शक्ति की भूमिका प्रतीकात्मक रूप में दर्शायी गयी है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में शक्ति की अवधारणा उस केन्द्रीय धुरी के समान है जिसके आधार पर ही सैद्धांतिक विश्लेषण निरूपित होते हैं और राज्यों के व्यवहार निर्दिष्ट किए जाते हैं। शक्ति की सामान्य और सार्वभौमिक परिभाषा बर्टेण्ड रसेल द्वारा 'किसी दूसरे के आचरण को प्रभावित करने की क्षमता' के रूप में दी गयी है, जो व्यक्ति से लेकर समाज और स्थानीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक समान रूप से लागू होता है। शक्ति के आयाम सामान्य तौर पर भौतिक रूप से उपल्ब्ध तत्वों से ही समझा जाता है तथापि अमूर्त निराकार विचारात्मक, भावात्मक और मूल्यपरक तत्वों का भी शक्ति के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में शक्ति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद भी उसे राज्य के हितों की पूर्ति के साधन के रूप में ही स्वीकार किया जाता है न कि साध्य के रूप में। इस अर्थ में शक्ति संतुलन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एक प्रक्रिया मात्र है जो तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में राज्य की भूमिका ही इंगित करता है। हैनस जे मार्गेंथाऊ और कैनेथ वाल्ट्ज जैसे विचारक, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की धारणा के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। मार्गेंथाऊ जो कि शास्त्रीय यथार्थवाद के प्रबल प्रवर्तकों में से हैं, के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सार, राष्ट्र-राज्यों के बीच अनवरत शक्ति संघर्ष है जिसे राष्ट्रहित के संदर्भ में परिभाषित किया जा सकता है। ये राष्ट्र-राज्यों के बीच अनवरत शक्ति संघर्ष ही शक्ति संतुलन के केन्द्र में है जो एक अराजक व्यवस्था को यथा संभव व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का यत्न करता है। मार्गेंथाऊ ने भी अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स; स्ट्रगल फॉर पॉवर एण्ड पीस' में इस

बात को स्वीकार किया है कि, राष्ट्रीय शक्ति असीम नहीं होती। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इसे सीमित एवं अनुशासित रखने के कई उपकरण विद्यमान हैं। इसमें सबसे प्रमुख शक्ति संतुलन है जिसके चलते अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी का कोई भी सदस्य या व्यवस्था में शामिल कोई समूह, इसे असंतुलित कर सर्वशक्तिमान नहीं बनने देता।

5.4 शक्ति संतुलन का सिद्धांत

संतुलन अथवा साम्य का सिद्धांत एक स्वभाविक प्राकृतिक सिद्धांत है। प्रकृति में निरंतर एक संतुलन अथवा साम्य की अवस्था विद्यमान रहती है और विभिन्न कारकों को चलायमान बनाए रखती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में संबंधों का निर्धारण राज्यों के धारित करने वाले हितों और उन हितों को साकार कर सकने के सामर्थ्य में निहित है। चूंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्यों का हित गत्यात्मक अवस्था में है और निरंतर बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन की अवस्था में रहता है। जिस स्थिति में विविध शक्तियों वाले बहुत सारे राष्ट्र मौजूद हों और जिसमें हर राष्ट्र अपनी शक्ति अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता हो और उसमें सारे निकाय में एक संतुलन कायम हो जाया करता है, शक्ति संतुलन की अवस्था है। विभिन्न राष्ट्र इस प्रकार समूहों में बंध जाते हैं कि कोई एक राष्ट्र या राष्ट्रों का समूह इतना ताकतवर नहीं होता कि वह दूसरों पर हावी हो सके क्योंकि उसकी शक्ति दूसरे विरोधी समूह द्वारा संतुलित हो जाती है। इस संदर्भ में यथार्थवादी धारणा के अनुरूप अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय किसी भी एक शक्ति को दूसरों से इतना अधिक शक्तिशाली बनने नहीं दिया जा सकता कि वह उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके अथवा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित कर सके। शक्ति और विशेष रूप से राजनीतिक शक्ति के संदर्भ में संतुलन की भूमिका उतनी ही प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है। शक्ति की अवधारणा किसी भी रूप में निरपेक्ष रूप से जानी नहीं जा सकती। यह सदैव एक सापेक्ष अवधारणा के रूप में परिलक्षित होता है। शक्ति की सापेक्षता और उसके अनुरूप उसका मूल्यांकन विभिन्न कारकों द्वारा निर्धारित होता है। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में कौटिल्य के मण्डल सिद्धांत में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से, राज्यों के व्यवहार के सन्दर्भ में संतुलन के सिद्धांत को निरूपित किया गया है। किसी राजनीतिक प्रणाली के समस्त अवयव कार्य की दृष्टि से परस्पराश्रित होते हैं तथा संतुलन के माध्यम से हितों के समायोजन का यथा संभव यत्न किया जाता है। आर्थर बेन्टले ने भी राजनीतिक प्रक्रम और हितों के संतुलन को समानार्थक माना है। अनेक आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सिद्धांतकारों ने भी, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सन्तुलन और निकाय सम्प्रत्ययों के माध्यम से समझने का यत्न किया है।

क्विंसी राइट ने सन्तुलन की परिभाषा करते हुए कहा है कि, सन्तुलन किसी एक सत्ता या सत्ताओं के समूह पर या उनके भीतर कार्य कर रहे बलों का वह आपसी संबंध है जिससे समष्टि में कुछ मात्रा का स्थायित्व दिखायी देता है। सन्तुलन को भी सामान्यतः दो रूपों में समझा जा सकता है- सामान्य सन्तुलन एवं वैधानिक सन्तुलन। सामान्य सन्तुलन में राजनीतिक निकाय के सारे तत्व और इकाईयां

परस्पर क्रिया, प्रतिक्रिया और अंतःक्रिया के एक प्रक्रम द्वारा एक दूसरे से संबंधित होते हैं और परस्पर अंतःक्रिया द्वारा एक स्थायित्व को प्राप्त करते हैं। टैलकट पारसन ने सन्तुलन के विचार को एक परस्पराश्रित समाज- व्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण की कई प्रकार की युक्तियों द्वारा कायम की गयी परिवर्तन की अवस्था या व्यवस्थित प्रक्रम माना है। वैधानिक संतुलन का सम्प्रत्यय, उन दशाओं का सूचक है जो किसी राष्ट्र के अंदर अथवा विभिन्न राष्ट्रों के मध्य कुछ निश्चित मापदण्डों अथवा विधियों के माध्यम से वैधानिक और शान्तिपूर्ण संबंध बनाए रखने के लिए आवश्यक है। वैधानिक सन्तुलन सामान्य रूप से ऐसी व्यवस्था की वकालत करता है जिसमें वैधिक रूप से राष्ट्रों की शक्ति को इस रूप में सन्तुलित किया जाय, जिससे एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों का समूह अपनी शक्ति के कारण दूसरे राष्ट्र पर हावी न हो सके। वैधानिक सन्तुलन इस बात का यत्न करता है कि, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अन्य राष्ट्र अलग थलग न पड़ जाएं और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी एक निश्चित भूमिका का निर्वहन कर सकें। जार्ज लिस्का और मार्टन काप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से संतुलन के सिद्धांत को निरूपित किया है। लिस्का ने 'सन्तुलन' शब्द का प्रयोग एक सैद्धांतिक मानक के रूप में किया है। लिस्का के अनुसार, कुछ व्यक्ति, सामाजिक समूह, अर्थ व्यवस्थाएं और संस्कृतियां- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इन सभी का योगदान रहता है। व्यक्तियों और समूहों के मानसिक संतुलन पर सुरक्षा और असुरक्षा की भावनाओं का प्रभाव पड़ता है। लिस्का सन्तुलन की कई शाखाओं में विश्वास रखता है और उन्हें बहुल संतुलन का नाम देता है जिनमें राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आदि सब पहलू होते हैं। लिस्का का यह मानना है कि, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और संबंध के विश्लेषण में तीन चीजें महत्वपूर्ण हैं-

1.प्रथम यह कि, अलग-अलग राज्य सामूहिक निर्णयकर्ता निकाय के हिस्से हैं और यह व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय संगठन के सर्वोपरि निर्देशन में एक एकीकृत संकल्प के अधीन कार्य कर रही है। इस मान्यता से ही विश्व व्यवस्था की संकल्पना संभव प्रतीत होती है।

2.राज्यों को संतुलन के सिद्धांत के आधार पर अपनी नीतियों का परीक्षण, अधिकाधिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण की आवश्यकता के संदर्भ में करनी चाहिए।

3.तीसरा, संतुलन के सिद्धांत को उस सामाजिक और भौतिक पर्यावरण का परीक्षण करना चाहिए, जिसमें राज्य एकतरफा कार्यवाही द्वारा अपनी स्थिति कायम रखने और सुधारने की कोशिश करते हैं। पर्यावरण के मुख्य घटक हैं राष्ट्रों की बहुलता, राज्यों के क्षेत्रीय आधारों का एक भू-राजनीतिक स्वरूप तथा अंतर्राष्ट्रीय और अधि-राष्ट्रीय प्रक्रम और संस्थाएं।

लिस्का के अनुसार संतुलन की नीति मानवीय मूल्यों को सुरक्षित करने की वांछनीय नीति है। संतुलन का सिद्धांत यह मानता है कि राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और भूमण्डलीय पैमाने पर कोई संगठन चलाने

हेतु आवश्यक है कि ''संस्थात्मक, सैनिक, राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक कारकों तथा स्थायित्व के पक्ष- विपक्ष के बलों को समझ-बूझ कर संतुलित किया जाय''।

मार्टन काप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के छह प्रकार का वर्णन किया है। काप्लान ने कुछ नियम और मानक माने हैं जिनको उसके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में निर्णयकर्ताओं को करना चाहिए। काप्लान ने अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में संतुलन स्थापित करने हेतु कुछ शर्तों को आवश्यक माना है। उनके अनुसार संघटक प्रक्रमों की प्रवृत्ति संतुलन कायम करने की होती है जबकि विघटक प्रक्रमों की प्रवृत्ति असंतुलन पैदा करने की होती है।

संतुलन की दूसरी महत्वपूर्ण धारणा यह है कि, संतुलन की कोई स्थिर अवस्था नहीं होती, यह सदा गतिशील रहता है जिसमें विभिन्न अवयव अपनी स्थिति के सापेक्ष संतुलन को प्रभावित करते हैं। बाह्य दशाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है अथवा इसकी सम्भावना बनी रहती है जिसके फलस्वरूप संतुलन भी एक चलायमान अवस्था में बना रहता है जिसे चार्ल्स मरियम जैसे विचारकों ने चल सन्तुलन अथवा मूविंग इक्विलियिब्रियम की संज्ञा दी है। शुम्पीटर का यह मत है कि, संतुलन के प्रक्रम सदा संतुलन के आस पास घूमता रहता हैं, पर संतुलन तक कभी नहीं पहुंचता है। शक्ति संतुलन की अवधारणा के विभिन्न पक्ष इस ओर इंगित करते हैं कि विश्लेषण के उपकरण के रूप में शक्ति संतुलन का सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और संबंधों को समझने के लिए एक व्यापक और महत्वपूर्ण अवधारणा है। शक्ति संतुलन के सामान्य रूप से दो स्वरूप देखने को मिलते हैं-

सरल संतुलन- सामान्य रूप से जब एक इकाई को किसी अन्य इकाई के द्वारा संतुलित किया जाता है, सामान्य संतुलन होता है।

बहुमुखी संतुलन- बहुत से राष्ट्र या राष्ट्र-समूह एक-दूसरे को संतुलित करते हैं और संतुलनों के भीतर भी संतुलन विद्यमान होता है, इस प्रकार के संतुलन को बहुमुखी संतुलन कहा जाता है।

शक्ति संतुलन का सिद्धांत, राज्यों के संबंधों को उनके शक्ति और सामर्थ्य के सापेक्ष समझने का एक व्यावहारिक आधार प्रदत्त करता है। यह सिद्धांत सामान्यतया राष्ट्रों के बीच शक्ति के वितरण का वाचक है। क्विंसी राइट ने शक्ति संतुलन के पाँच मुख्य अभिग्रह बताए हैं-

1.पहला अभिग्रह यह है कि, प्रत्येक राज्य अपने मार्मिक हितों की युद्ध सहित सब संभव साधनों से रक्षा करने के लिए प्रतिबद्ध रहता है तथा अपने हितों का निर्धारण राज्य द्वारा स्वयं किया जाता है।

2.दूसरा अभिग्रह यह है कि, राज्य के मार्मिक हितों के लिए कुछ न कुछ खतरा सदैव बना रहता है।

3.तीसरा अभिग्रह यह है कि, शक्ति संतुलन या तो अन्य राज्यों को आक्रमण का भय दिखाकर मार्मिक हितों की रक्षा में सहायक होता है या आक्रमण की अवस्था में आक्रांता पर विजय पाने का सामर्थ्य पाकर।

4.चौथा अभिग्रह, इस बात को स्वीकार करता है कि, विभिन्न राज्यों की शक्ति को सापेक्षिक रूप में काफी हद तक नापा जा सकता है।

5.पाँचवा अभिग्रह यह मानता है कि, राज्य के नेतृत्व के द्वारा अपनी विदेशनीति का निर्णय शक्ति संबंधी तथ्यों के आधार पर, सम्यक विचार के पश्चात करते हैं।

राष्ट्रों के व्यवहार में अपने हितों को लेकर राजनय के निर्माण में ये मूलभूत अभिग्रह सामान्यतया दिखायी देते हैं और राज्य अपने संबंधों का निरूपण यथार्थ के धरातल पर शक्ति संतुलन के इन्ही सिद्धांतों के सापेक्ष करते दिखायी देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्यों के व्यवहार के विश्लेषण का सबसे व्यावहारिक और मूलभूत सिद्धांत शक्ति संतुलन के सिद्धांत में ही दिखायी देता है।

5.5 शक्ति संतुलन और अंतर्राष्ट्रीय इकाईयां

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति संतुलन की सम्पूर्ण अवधारणा ही अंतर्राष्ट्रीय इकाईयों और विशेष रूप से राष्ट्र राज्यों के हितों और उसके निमित्त अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को प्रभावित करने वाले कारकों पर ही अवलम्बित है। राष्ट्र-राज्य निरंतर अपने हितों को प्रभावी रूप से साधने और उसके निमित्त अंतर्राष्ट्रीय इकाईयों को प्रभावित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं। राष्ट्र-राज्यों द्वारा सामान्यतया निम्न छः तरीकों के इस्तेमाल के द्वारा शक्ति संतुलन को स्थापित करने की चेष्टा की जाती है-

1.शक्ति की आपेक्षिक श्रेष्ठता स्थापित करने की चेष्टा द्वारा जो सामान्य रूप से सामरिक शक्ति के रूप में दृष्टिगत होती है।
2.अधिकाधिक क्षेत्र पर आधिपत्य का प्रयास। उदाहरण रूप में चीन द्वारा दक्षिण चीन सागर सहित अन्य क्षेत्रों पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास कर एशियाई क्षेत्र में शक्ति संतुलन अपने पक्ष में करने की निरंतर चेष्टा।
3.दो अमित्र राज्यों के मध्य बफर राज्य की स्थापना जिससे दोनों प्रतिद्वंदी अमित्र राज्यों को अलग कर युद्ध की संभावना को कम करना। उदाहरण- प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व पोलैण्ड रूस और जर्मनी के मध्य बफर राज्य था।
4.संधि या संश्रय भी शक्ति संतुलन स्थापित करने का तरीका है जो प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व धुरी और मित्र राष्ट्रों तथा अन्य राज्यों के साथ गुप्त संधियों में दिखायी देता है।

5.अंतःक्षेप या हस्तक्षेप भी शक्ति संतुलन का एक तरीका है जिसे सशक्त राष्ट्रों द्वारा अपने हितों के संवर्धन के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

6.विरोधी के मित्रों को अपने साथ मिलाकर, अलग या तटस्थ कर शक्ति वितरण को प्रभावित किया जाता है। ब्रिटेन द्वारा फूट डालो और राज करो की नीति इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

इस प्रकार राज्यों द्वारा व्यवहार में इन तकनीकों का प्रयोग कर शक्ति संतुलन को अपने हितों के अनुरूप करने की चेष्टा निरंतर की जाती है। राष्ट्र-राज्यों के साथ ही अनेक अंतर्राष्ट्रीय इकाईयों (संयुक्त राष्ट्र, विश्व बैंक आदि) की गतिविधियां भी राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करती हैं और अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों में शक्ति संतुलन की अवधारणा को एक नवीन पक्ष प्रदान करती हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र-राज्य अनिवार्य घटक हैं, जिसके बिना अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस अर्थ में अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति संतुलन की कल्पना भी विविध अंतर्राष्ट्रीय इकाईयों की भूमिका के बिना करना सम्भव नहीं है क्योंकि अंततः उनका सामर्थ्य, व्यवहार और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति उनकी धारणा ही शक्ति संतुलन को निर्धारित करने की अनिवार्य शर्त है। यूरोपीय शक्ति संतुलन को परिभाषित करने वालों में आस्ट्रिया के काऊन्ट मेटरनीख का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उन्होंने ही कॉनसर्ट ऑफ यूरोप नामक राजनयिक बिरादरी की नींव रखी। मेटरनीख का मानना था कि यूरोप के सभी राजवंशों को एकजुट होने की आवश्यकता है, अन्यथा राजतंत्र के उन्मूलन के लिए सक्रिय क्रांतिकारी ताकतें उन्हें समाप्त कर देंगी। शक्ति संतुलन की सबसे स्पष्ट घोषणा 1802 के मुनरो सिद्धांत में दिखायी देता है। 1802 में तत्कालीन अमेरीकी राष्ट्रपति मुनरो ने यह घोषणा की कि, संयुक्त राज्य अमेरीका, दक्षिणी अमेरीकी महाद्वीप में किसी यूरोपीय ताकत का हस्तक्षेप किसी भी स्थिति में बर्दास्त नहीं करेगा। यह माना जाता है कि, शक्ति संतुलन की प्राथमिकता वाले राजनय के कारण ही 19वीं सदी में यूरोप युद्ध से बचा रहा। 20वीं सदी के छोटे-छोटे संघर्षों से लेकर प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध तक, सभी किसी शक्ति के प्रभाव की स्थापना के प्रयास थे और संतुलन को अपने पक्ष में करने का यत्न। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात पुरानी ताकतें कमजोर हो गयीं और संतुलन को अपने पक्ष में करने के प्रयास में निष्फल रही और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में नयी ताकतें अपनी नयी भूमिका निभाने को तैयार खड़ी थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात राज्यों की शक्ति का एक नया मापदण्ड परमाणु हथियार के रूप में आ चुका था जिसने परम्परागत शक्ति संतुलन के आयाम को पूरी तरह बदल दिया। एटमी हथियारों के प्रयोग ने शक्ति की परिभाषा ही बदल दी। शीत युद्ध के दौर में परस्पर विरोधी ध्रुवों द्वारा एक दूसरे की शक्ति को संतुलित करने का यत्न किया गया। उनके बीच की प्रतिस्पर्धा यद्यपि तीव्र थी और कोई छोटी सी घटना भी भयावह रूप धारित कर सकती थी, तथापि दो परस्पर विरोधी गुटों के पास लगभग बराबर के सामर्थ्य ने एक दूसरे की शक्ति को संतुलित करते हुए युद्ध की संभावना को कम किया। परमाणु हथियारों की उपस्थिति और उसके प्रयोग की संभावना ने, शक्ति संतुलन को आतंक के संतुलन में परिणीत कर दिया। उत्तर कोरिया, पाकिस्तान आदि राज्यों के द्वारा परमाणु हथियारों के गैर जिम्मेदाराना प्रयोग की संभावना, आतंकी समूहों द्वारा इनको प्राप्त करने की चेष्टा ने इस आतंक के संतुलन को और भी भयावह कर दिया है।

अभ्यास प्रश्न

1.शक्ति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सबसे महत्वपूर्ण प्रत्ययों में से एक है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

2.किस प्राचीन भारतीय चिन्तक के दर्शन में शक्ति और शक्ति संतुलन की अवधारणा का बोध होता है?

3.शक्ति संतुलन की अवधारणा एक आदर्शवादी अवधारणा है।यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

4.मार्गेंथाऊ की पुस्तक का क्या नाम है ?

5.संतुलन की नीति मानवीय मूल्यों को सुरक्षित करने की वांछनीय नीति है। यह किसका कथन है?

6.चल सन्तुलन अथवा मूविंग इक्विलियिब्रियम की अवधारणा किस चिन्तक ने दी है?

7.मुनरो सिद्धांत में अमेरीकी राष्ट्रपति मुनरो ने किस महाद्वीप में किसी यूरोपीय ताकत का हस्तक्षेप किसी भी स्थिति में बर्दास्त नहीं करने की घोषणा की ?

5.6. सारांश

शक्ति संतुलन सिद्धांत का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के एक विश्लेषणात्मक उपकरण के तौर पर ही किया जाता है जो कि कुछ कल्पित मानकों और धारणाओं के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के इकाईयों की सापेक्ष शक्ति का निर्धारण करता है। शक्ति संतुलन का सिद्धांत, एक साम्य का सिद्धांत है जिसे अंतर्राष्ट्रीय इकाईयां अपने राष्ट्रीय हितों, उपलब्ध संसाधन, सामर्थ्य तथा शक्ति के आधार पर अन्य इकाईयों के व्यवहार को अधिकतम अपने पक्ष में करने का यत्न करती हैं। शक्ति संतुलन का सिद्धांत एक यथार्थ परक व्यवहारवादी सिद्धांत है जो उपलब्ध परिस्थितियों के आधार पर शक्ति की सापेक्षता और राज्यों के व्यवहार का आकलन करता है। स्टैनले हॉफमैन के अनुसार यथार्थवाद और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में संतुलन के सिद्धांत में बहुत कम अंतर है। यथार्थवादी सिद्धांत में राज्य अपने हितों को सर्वोत्तम रूप में परिभाषित करते हुए अधिकतम शक्ति अर्जित करने का यत्न करते हैं। संतुलन के सिद्धांत में राज्य सर्वोत्तम प्राप्तव्य संतुलन को प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। संतुलन का सम्पूर्ण सिद्धांत यह मानकर चलता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रवृत्ति स्थायित्व और संतुलन की है और अंतर्राष्ट्रीय इकाईयां सदैव इस दिशा में यत्नशील रहती हैं।

5.7 शब्दावली

शक्ति संतुलन- किसी राजनीतिक व्यवस्था की इकाईयों द्वारा परस्पर क्रिया और अंतःक्रिया के द्वारा एक दूसरे के सामर्थ्य को प्रभावित करते हुए एक साम्य की अवस्था स्थापित करना ही शक्ति संतुलन है।

मण्डल सिद्धांत- प्राचीन भारतीय दार्शनिक कौटिल्य द्वारा राज्यों के परस्पर व्यवहार के मानक सिद्धांत के रूप में मण्डल सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया।

भू-राजनीति- अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भू-राजनीति की अवधारणा यह स्वीकार करती है कि, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इकाईयों (राष्ट्र-राज्य) की शक्ति और व्यवहार राज्यों की भौगोलिक स्थितियों पर निर्भर करती है।

चल सन्तुलन- चल सन्तुलन अथवा मूविंग इक्विलियिब्रियम का सिद्धांत चार्ल्स मरियम ने दी है, जिसके अनुसार संतुलन सदा गतिशील अवस्था में रहता है।

5.8 अभ्यास के उत्तर

1.सत्य,2.कौटिल्य,3.असत्य,4.पॉलिटिक्स अमंग नेशन्स; स्ट्रगल फॉर पॉवर एण्ड पीस,5. जार्ज लिस्का,

6.चार्ल्स मरियम, 7. दक्षिणी अमेरीकी महाद्वीप

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, महेन्द्र कुमार

2. 21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, पुष्पेश पंत

3.अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वी0एन0 खन्ना

5.10 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पॉल विलकिन्सन

2.ए थ्योरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, महेन्द्र कुमार

3.पॉलिटिक्स एमन्ग नेशन्स, एच0जे0 मार्गेथाऊ

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संतुलन की अवधारणा का विश्लेषण करिए।

2.शक्ति संतुलन की अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शान्ति बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इस कथन का परीक्षण करें।

3.शक्ति संतुलन की अवधारणा बहुध्रुवीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अनिवार्य शर्त है। इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

4.शक्ति संतुलन के संदर्भ में परमाणु हथियारों की भूमिका काफी हद तक महत्वपूर्ण है। शीत युद्ध के संदर्भ में इस कथन का विश्लेषण करें।

इकाई - 6 सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ

6.4 सामूहिक सुरक्षा और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था

6.5 सामूहिक सुरक्षाः एक यथार्थ अवधारणा

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.10 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की आधारभूत चेतना ही वैश्विक व्यवस्था में शांति स्थापित करने से प्रेरित है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अधिकांश सिद्धांत इस दिशा में ही प्रयास करते दिखायी देते हैं कि, किस तरह विभिन्न राज्यों के विद्यमान हितों और उसके सापेक्ष राज्यों के व्यवहार में प्रतिध्वनित होने वाले शक्ति के तत्व को अधिकतम सम्भावित स्थिति तक समायोजित करते हुए वैश्विक व्यवस्था एवं शांति की स्थापना की जाय। इस दिशा में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संबंध का सर्वाधिक स्पष्ट स्वरूप, सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत में फलित होता दिखायी देता है।

6.1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शांति स्थापना की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को जान सकेंगे।
- सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका समझ सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के संदर्भ में सामूहिक सुरक्षा की भूमिका को समझ सकेंगे।

6.3 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ

सुरक्षा की अवधारणा एक जटिल अवधारणा है जिसकी एक परिभाषा अथवा एक संदर्भ में व्याख्या कर सकना सम्भव नहीं दिखायी देता है। सुरक्षा की संकल्पना अलग-अलग संदर्भों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। सुरक्षा के मापदण्ड भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न हो सकती है। सुरक्षा की संकल्पना जटिल होने के बावजूद भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकल्पनाओं में से एक है। सामाजिक विकास के बहुतायत आयाम इसी सुरक्षा की खोज अथवा उसको स्थापित करने के प्रयास से फलीभूत हो सके। सामाजिक व्यवस्था से लेकर सभ्यता के विकास के इस चरण तक किसी न किसी रूप में सुरक्षा की अवधारणा की अपनी भूमिका रही है। व्यक्ति से लेकर परिवार, परिवार से लेकर समाज और समाज से लेकर राज्य तक सुरक्षा की अवधारणा केन्द्रीय भूमिका में रही है। सुरक्षा की यही अवधारणा राज्यों के व्यवहार को प्रभावित करती रही है। व्यापक रूप से राज्यों के समाज को एक निश्चित मानक व्यवस्था से जोड़ते हुए कैसे एक सुरक्षा की संकल्पना विकसित की जाय, इसका प्रयास अनवरत रूप से जारी है। सुरक्षा को सामान्य रूप से ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें किसी इकाई द्वारा बाह्य तत्व अथवा किसी भी अवांछनीय स्थिति से जिससे उसको अपने अस्तित्व अथवा हितों को लेकर खतरा या उसकी सम्भावना दिखायी देती हो; से बचाने का प्रयास किया जाय। सुरक्षा की अवधारणा एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है जो निरंतर किसी न किसी रूप में बनी रहती है। सुरक्षा शब्द, एक लक्ष्य को निरूपित करता है और सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा विभिन्न इकाईयों की एक मानकीय व्यवस्था के अंतर्गत सुरक्षा का द्योतक है। यह राष्ट्रीय सुरक्षा के संरक्षण के लिए आयोजित एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें दूसरे समान-सोच वाले राष्ट्रों के साथ एक संयुक्त मोर्चे का गठन इस घोषणा के साथ किया जाता है कि, 'यदि किसी भी राज्य ने इस मोर्चे के सदस्य-सहयोगी राज्य पर आक्रमण किया तो उसे बाकी सदस्यों के खिलाफ आक्रमण समझा जाएगा और जिसका उत्तर संयुक्त रूप से दिया जाएगा। ऑरगेन्सकी के अनुसार सामूहिक सुरक्षा का यही तर्क सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सामूहिक सुरक्षा की इसी अवधारणा ने कई बार युद्ध या उसकी संभावना को कम किया है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारण गुटीय सैन्य संगठन अथवा संधियों से इस अर्थ में पृथक है इस प्रकार के गुटीय संगठन व्यक्तिगत हितों से जुड़े होते हैं और प्रतिद्वंदिता को बढ़ाते हैं जबकि सामूहिक सुरक्षा की अवधारण ऐसे किसी भी प्रयास का प्रतिरोध करती है और एक शांतिपूर्ण वैश्विक व्यवस्था के निर्माण में सहायता करती है। एक निश्चित मानकीय संरचना के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को आधार मानकर, समस्त राष्ट्रों (विशेष रूप से सहयोगी राष्ट्र) को सुरक्षा का भाव उपलब्ध कराना ही सामूहिक सुरक्षा है। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना, इस धारणा पर अवलम्बित है कि, 'एक सभी के लिए और सब एक के लिए'। विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संगठनों विशेष रूप से 'राष्ट्र संघ' और कालांतर में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना के पीछे भी मूल रूप से सामूहिक सुरक्षा के माध्यम से वैश्विक शांति की परिकल्पना ही कार्य कर रही थी। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की मूल भावना इस में निहित है कि, राष्ट्रों के

मध्य शान्तिमय अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का विकास करते हुए, वैश्विक संरचनाओं से युद्ध की संभावनाओं को न्यून किया जाय। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा सामूहिक रूप से राष्ट्रों की सुरक्षा का बोध तो कराता ही है साथ ही सुरक्षा की संकल्पना को साकार करने के एक माध्यम का भी द्योतक है। मोटे तौर पर सामूहिक सुरक्षा का अभिप्राय यह है कि, एक राज्य पर किया गया हमला सब राज्यों पर हमला माना जाय और सभी राज्य मिलकर सुरक्षा के उद्देश्य को पूरा करें। सामूहिक सुरक्षा, शक्ति के ऐसे वितरण का निर्देश करती है जिसमें बहुत बड़ा हिस्सा शान्ति और व्यवस्था के रक्षकों के हाथों में होता है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा किसी भी सम्भावित आक्रांता के प्रयोजन को राज्यों के सामूहिक शक्ति और क्षमता के द्वारा निष्फल करने की व्यवस्था और युक्ति है। इसकी धारणा यह है कि, एक राज्य की सुरक्षा सिर्फ एक राज्य की सुरक्षा के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था की सुरक्षा के लिए आवश्यक है अतः सभी राज्यों का यह सामूहिक उत्तरदायित्व भी है।

एक शान्तिपूर्ण वैश्विक व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक है कि समस्त राज्यों की सुरक्षा चिन्ताओं का समुचित समाधान अनिवार्य रूप से किया जाय। समकालीन परिस्थितियों में राज्यों की सुरक्षा चिन्ताओं के कारक और उनके स्वरूप में व्यापक परिवर्तन आया है। आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राज्यों की सुरक्षा चिन्ताएं और भी गहरी हो गयी हैं विशेषरूप से बढ़ते हुए आतंकवाद और उसके तेजी से बदलते हुए स्वरूप से। आतंकवादी समूहों द्वारा राज्यों की सीमाओं से परे किए जाने वाले हमलों, उनके प्रयोग के तरीकों और नित नयी उभरती हुयी चुनौतियों ने सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को और भी प्रासंगिक और समीचीन ही नहीं बनाया है अपितु सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को भी नए स्वरूप में देखने को प्रेरित किया है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा शान्ति स्थापना का एक मार्ग है जो सभी राज्यों को सामूहिकता की भावना से जोड़ता है। सामूहिक सुरक्षा तंत्र के अंदर प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राज्यों के सुरक्षा की चिन्ता साझे रूप में करता है और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना से एक दूसरे की सुरक्षा चिन्ताओं को दूर करने में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना शान्ति स्थापना का एक महत्वपूर्ण माध्यम होते हुए भी, वैश्विक शान्ति स्थापना हेतु बहुत से तरीकों में से एक तरीका है जहां अन्य शान्ति स्थापना की युक्तियां भी अपना कार्य समानान्तर रूप से करती हुयी दिखायी देती हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि, अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा राज्यों के व्यवहार और उनकी स्वेच्छा पर ही निर्भर है, यह किसी भी रूप में बाध्यकारी नहीं है। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था द्वारा उपलब्ध सामर्थ्य के आधार पर किसी सम्भावित आक्रांता को अनिवार्य रूप से पराजित कर पाने की क्षमता का बोध होता हुआ दिखायी देना चाहिए। सामूहिक रूप से राज्यों की शक्ति के समुच्चय द्वारा एक नैतिक दबाव और बल का सृजन ही सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य है जिसके माध्यम से शांति की संभावना को और पुष्ट किया जा सके। इस रूप में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा, राज्यों के नैतिक आधार पर ही अवलम्बित है।

6.4 सामूहिक सुरक्षा और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी भी सिद्धांत का मूल आधार उसमें विद्यमान विभिन्न इकाईयां और विशेष रूप से राष्ट्र-राज्यों की संकल्पना है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा भी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाए रखने का महत्वपूर्ण सिद्धांत है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक विकास के चरण के रूप में सामूहिक सुरक्षा के आधार पर संकल्पित चेतना के रूप में राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना एक विशेष चरण के रूप में रही है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा प्राचीन भारतीय चिन्तन; विशेष रूप से मनु और कौटिल्य के चिन्तन में 'षाणगुण नीति' में भी कहीं कहीं दृष्टिगत होती है। मण्डल सिद्धांत का स्वरूप शक्ति संतुलन के साथ ही साथ; सामूहिक सुरक्षा का भी बोध कराता है। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना यद्यपि प्राचीन है तथापि आधुनिक संदर्भों और परिस्थितियों के संदर्भ में इसकी भूमिका में व्यापक बदलाव आया है। सर्वप्रथम 1919 की 'वर्साय की संधि' में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को औपचारिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सम्मिलित किया गया। इस संकल्पना के सबसे प्रबल समर्थक अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन रहे जिनके प्रयास से यह वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय संरचना के अनिवार्य अंग के रूप में जुड़ा। शांति समझौते के सम्पन्न होने के बाद 'लीग ऑफ नेशन्स' के गठन के साथ ही अमेरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की प्रेरणा से राजनयिकों का प्रयास युद्ध के उन्मूलन के लिए सामूहिक सुरक्षा की धारणा को प्रतिस्थापित करना था। ये विषय अलग हो सकता है कि 'लीग ऑफ नेशन्स' की घोषणापत्र में धारा 10 से 16 तक जिस सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को लागू करने की बात की गयी थी वो कभी प्रभावी न हो सका। शायद इसकी यही कमजोरी, जिसमें यह सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को साकार लागू न कर सका; द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण बनी। राष्ट्र संघ ऐसा संघ बना रहा जिसमें सिद्धांत में तो बड़ी मूल्यपरक बातें और वैश्विक चिन्ताएं जाहिर हुयीं किन्तु व्यवहार में यह एक खोखला संगठन ही बना रहा। प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में निर्मित राष्ट्र संघ और कालांतर में द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात अस्तित्व में आए संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण का समस्त आधार ही सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ का उउद्देश्य ही 'भविष्य की पीढ़ियों को युद्ध की विभीषीका से बचाने के लिए' था। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र के सातवें अध्याय में धारा 39 से 51 तक सामूहिक सुरक्षा विषयक विचार प्रकट किए गए हैं। धारा 39 के अनुसार, यह अधिकार सुरक्षा परिषद के पास है कि शांति भंग होने का क्या खतरा है ? धारा 45 के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सामूहिक सुरक्षा के हित में संयुक्त कार्यवाही के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ, सदस्य राष्ट्रों से सैनिकों की मांग कर सकता है। सामूहिक सुरक्षा की यह अवधारणा सामूहिकता पर आधारित व्यवस्था और शांति की स्थापना के साथ, सदस्य राष्ट्रों की सम्प्रभुता का भी यथेष्ट सम्मान करती है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ अपने इस उद्देश्य में कितना सफल रहा, इस विषय पर मतभिन्नता हो सकती है, किन्तु यह तथ्य भी उतना ही स्पष्ट और सत्य है कि अपनी स्थापना के साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ ने शान्ति सेनाओं के माध्यम से विभिन्न राज्यों की सहभागिता सुनिश्चित करते हुए विभिन्न राज्यों में शान्ति स्थापना में महत्वपूर्ण

भूमिका निभायी है। ये शान्ति स्थापना के प्रयास सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा पर ही अवलम्बित थे जिन्होंने न सिर्फ उस राज्य में शान्ति स्थापित करने में भूमिका निभायी जहां पर सुरक्षा चिन्ताएं विद्यमान थीं अपितु उनके प्रसार को भी नियंत्रित करने में अपनी भूमिका निभायी। कोरियन संकट, स्वेज नहर संकट, अफगानिस्तान संकट, अफ्रीकी देशों के संकट, सीरियाई संकट इसके कुछ उदाहरण हैं जिनकी भयावहता वैश्विक व्यवस्था को गम्भीर रूप से प्रभावित कर सकती थी किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ की सकारात्मक भूमिका ने इसके प्रभावों को नियंत्रित कर वैश्विक व्यवस्था एवं शान्ति स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सामूहिक सुरक्षा के निमित्त संयुक्त राष्ट्र संघ की संकल्पना में मात्र सैन्य सुरक्षा के आधार ही नहीं हैं, अपितु संघर्ष के मूलभूत कारणों का निवारण भी उसमें निहित है। संघर्ष निवारण के पश्चात विकास की संभावनाओं को पुर्नजीवित करना भी उसमें समाहित है। संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा द्वारा गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों और विशेष रूप से भारत के प्रयासों से 1950 में प्रस्ताव 377 द्वारा 'शान्ति के लिए एक होने' का प्रस्ताव तथा 'मानवीय हस्तक्षेप' की अनुमति; अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और सामूहिक सुरक्षा दृष्टि से वैश्विक शांति के लिए मील का पत्थर है, जिसके द्वारा सुरक्षा परिषद के गतिरोध को अप्रासंगिक बना दिया गया। सामूहिक सुरक्षा और वैश्विक शांति को लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ और विशेष रूप से सुरक्षा परिषद में सुधार की मांग लगातार की जा रही है। यद्यपि मानवीय हस्तक्षेप की संकल्पना को लेकर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के चिन्तकों के मन में सम्प्रभुता को लेकर कुछ चिन्ताएं हैं, बावजूद इसके अतीत की घटनाएं, इस संकल्पना की नकारात्मकता के बावजूद भी इसे आवश्यक बनाती हैं। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा के तरह इस संकल्पना के केन्द्र में भी आदर्श रूप में मानवीय सुरक्षा का तत्व निहित है। मानवीय सुरक्षा का यह तत्व ही संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण की मूल चेतना है, जिसमें भविष्य की पीढ़ियों को युद्ध की विभीशिका से बचाने का एक आश्वासन है। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना को और प्रभावी तथा मजबूत बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संरचनाओं विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ को वैश्विक व्यवस्था में और प्रभावी तथा मजबूत बनाए जाने की आवश्यकता है।

6.5 सामूहिक सुरक्षा: एक यथार्थ अवधारणा

सामूहिक सुरक्षा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक यथार्थपरक अवधारणा होते हुए भी, आदर्श की भावना से प्रेरित सिद्धांत है। सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत राज्यों के वर्चस्व और आक्रमण के निरोध के सिद्धांत के रूप में प्रतिस्थापित सिद्धांत है जिसमें युद्ध अथवा उसकी सम्भावना को सामूहिक सामर्थ्य के आधार यथा संभव रोकने का यत्न किया जाय और युद्ध की स्थिति में सामूहिकता के आधार पर इसका सामना किया जाय। सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत, सम्भावित आक्रांताओं को एक भय का बोध कराते हुए, युद्ध को यथा सम्भव रोकने का यत्न है। हैन्स जे0 मार्गेथाऊ के शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि 'एक सभी के लिए और सब एक के लिए'। इस रूप में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा एक यथार्थपरक अवधारणा है जो कि विद्यमान यथार्थ परिस्थितियों के आधार पर

कार्य करती है। यह इस रूप में भी यथार्थवादी है कि राष्ट्रों को सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य के निमित्त बाध्य नहीं किया जा सकता। राष्ट्र अपने पारिस्थितिकी आकलन और हितों के परिप्रेक्ष्य में अपनी भूमिका के लिए स्वतंत्र हैं। सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना युद्ध और शान्ति की समस्याओं से निपटने का ऐसा प्रयास है जिसमें घरेलू राजनीति में बलप्रयोग करने के सिद्धांत का विस्तार और शक्ति संतुलन के दायरे का प्रसार किया गया है। इस विस्तार और प्रसार में युद्ध के स्वरूप और कारणों के कुछ अभिग्रह निहित दिखायी देते हैं। पहला अभिग्रह यह है कि, अंतर्राष्ट्रीय वयवस्था में युद्ध की संभावना सदैव विद्यमान है और उसे रोका जाना चाहिए। दूसरा अभिग्रह यह है कि, राज्यों पर अतिबल शक्ति के निवारक प्रभाव से युद्ध को रोका जा सकता है अथवा उसकी सम्भावना कम की जा सकती है। सामूहिक सुरक्षा के ये दोनों अभिग्रह इसे यथार्थवादी संकल्पना के इस तथ्य के निकट लाते हैं कि, युद्ध की संभावनाओं को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और समाज से दूर नहीं किया जा सकता। आइनिस क्लॉड के शब्दों में, सामूहिक सुरक्षा; शक्ति के व्यवस्थापन की एक युक्ति है, शक्ति को समाप्त करने की नहीं। एक अर्थ में सामूहिक सुरक्षा का आधार, शक्ति संतुलन का ही एक विस्तार था जिसे मानकीय स्वरूप और व्यवस्था के माध्यम से स्थापित करते हुए वैश्विक शांति की स्थापना की एक व्यावहारिक युक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सामूहिक सुरक्षा इस रूप में सामूहिक मोर्चाबन्दी से भिन्न है कि, इसकी मंशा एक मानकीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना में निहित है जबकि सामूहिक मोर्चाबन्दी व्यक्तिगत राज्यों के हितों अथवा वर्चस्व स्थापना के प्रयास के रूप में ही दिखायी देता है।

अभ्यास प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत, शक्ति संतुलन के सिद्धांत का विस्तार है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

2.सुरक्षा की अवधारणा एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा नहीं है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

3.वर्साय की संधि कब हुयी ?

4.'शान्ति के लिए एक होने' का प्रस्ताव किस अंतर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा दिया गया ?

5.सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना भविष्य की विश्व सरकार की स्थापना का आधार है। यह कथन सत्य है अथवा असत्य ?

6.6 सारांश

सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के आधारभूत सिद्धांतों में से एक है जिसके द्वारा राज्यों के सामाजिक संरचना में सामूहिकता पर आधारित एक नैतिक सैन्य अथवा शक्ति के दबाव के माध्यम से राज्यों के अंतःसंबंधों में एक शान्ति स्थापना का यत्न प्रतिबिम्बित होता है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा यथार्थ के आवरण में लिपटी हुयी एक ऐसी आदर्श व्यवस्था है जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और संरचना में वर्चस्व और युद्ध की सम्भावना को सामूहिक शक्ति के प्रयोग

के द्वारा न्यून किया जाय। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा ही भविष्य की एकीकृत वैश्विक व्यवस्था की संभावना का आधार है जिसमें सम्मिलित सभी राज्य एक बराबरी वाली वैश्विक व्यवस्था के भागी हो सकें। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा ही एक समतामूलक वैश्विक व्यवस्था का आधार है जिसमें राज्यों के अपने अस्तित्व, हित और सुरक्षा एक निश्चित संरचना में एक दूसरे से गुंथे दिखायी देते हैं। इनीस क्लॉड जैसे विचारक, सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को लेकर बहुत ही आशावादी हैं जिन्हें यह प्रतीत होता है कि एक दिन सभी तलवारों को पिघलाकर, खेती के औजारों में बदला जा सकेगा।

6.7 शब्दावली

सामूहिक सुरक्षा- सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत राज्यों के वर्चस्व और आक्रमण के निरोध के सिद्धांत के रूप में प्रतिस्थापित सिद्धांत है जिसमें युद्ध अथवा उसकी सम्भावना को सामूहिक सामर्थ्य के आधार यथा संभव रोकने का यत्न किया जाय और युद्ध की स्थिति में सामूहिकता के आधार पर इसका सामना किया जाय। हैन्स जे0 मार्गेंथाऊ के शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि 'एक सभी के लिए और सब एक के लिए'।

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था- राष्ट्र-राज्यों और अंतर्राष्ट्रीय निकायों का वह स्वरूप जिसमें वे परस्पर क्रिया, अंतःक्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा एक दूसरे से संबंधित होते हुए एक दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

शक्ति संतुलन- किसी राजनीतिक व्यवस्था की इकाईयों द्वारा परस्पर क्रिया और अंतःक्रिया के द्वारा एक दूसरे के सामर्थ्य को प्रभावित करते हुए एक साम्य की अवस्था स्थापित करना ही शक्ति संतुलन है।

मानवीय हस्तक्षेप- किसी राज्य की सीमा के अंदर व्यक्तियों के मानवीय सुरक्षा तथा उसके सम्मान पूर्वक जीवन के अधिकार के अतिक्रमण की दशा में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहमति से राज्यों के समूह अथवा किसी एक राज्य द्वारा मानवीय सुरक्षा और गरिमा को स्थापित करने के उद्देश्य से उस राज्य में उसकी सम्प्रभुता का हनन कर, हस्तक्षेप करना ही मानवीय हस्तक्षेप है।

यथार्थवाद-अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और संबंध का वह सिद्धांत, जो यथार्थ और परिस्थितिजन्य वास्तविक स्थिति के आधार पर सैद्धांतिक निरूपण और विश्लेषण करता है, यथार्थवाद कहलाता है।

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.सत्य, 2.असत्य, 3.1919, 4.संयुक्त राष्ट्र संघ, 5. सत्य

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, महेन्द्र कुमार

2.21वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय संबंध, पुष्पेश पंत

3.अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वी0एन0 खन्ना

6.10 सहायक/ उपयोगी अध्ययन सामग्री

1.इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पॉल विलकिन्सन

2.ए थ्योरिटिकल एसपेक्ट्स ऑफ इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, महेन्द्र कुमार

3.पॉलिटिक्स एमन्ग नेशन्स, एच0जे0 मार्गेंथाऊ

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत, शक्ति संतुलन के सिद्धांत का विस्तार है। इस कथन का सोदाहरण विश्लेषण करिए।

2.सामूहिक सुरक्षा के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का विवेचन करें।

3.सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा यथार्थ के आवरण में लिपटी हुयी एक आदर्श व्यवस्था है। इस कथन की समालोचना करें।

4.विश्व सरकार की संकल्पना, एक कल्पना है। इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं ?

इकाई 7 अन्तर्राष्ट्रीय विधि-अर्थ, प्रकृति और भूमिका, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एंव अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ एवं परिभाषा

7.4 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आवश्यक तत्व

7.5 अभ्यास प्रश्न 1

7.6 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप

7.7 अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भुमिका

7.8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीती और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध

7.9 अभ्यास प्रश्न 2

7.10 सारांश

7.11 शब्दावली

7.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.14 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। बीसवीं शताब्दी को परिवर्तन के लिहाज से कुछ विशेष महत्व प्राप्त है क्योंकि इसमें परिवर्तन की गति में अप्रत्यासित वृद्धि हुई है। आज वैज्ञानिक अविष्कार, शोध, खोज और वैज्ञानिक तकनीकी ने मानव जीवन को आरामदेह, सुखी और उदार बना दिया है। परिणामस्वरूप राष्ट्रों में परस्पर निर्भरता बढ़ी है। आज दुनियाँ का बड़े से बड़ा या शक्तिशाली से शक्तिशाली देश भी अपने को विश्व समुदाय से अलग नहीं रख सकता है। राष्ट्रों के मध्य परस्पर निर्भरता के कारण राष्ट्रों के मध्य घनिष्ठता भी बढ़ी है लेकिन यह सब तभी स्थायित्व प्राप्त कर सकता है जबकि राष्ट्र शान्तिपूर्ण ढंग से एक सुगठित समूह के रूप में जीना सीख लें। इसके लिए ठीक उसी प्रकार से जैसे राष्ट्रों में सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज की स्थापना के लिए राष्ट्रीय विधियों की व्यवस्था होती है, वैसे ही राष्ट्रों को नियन्त्रित और निर्देशित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्यवस्था अपरिहार्य है। इसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्रों के व्यवहार को मर्यादित नहीं किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की बड़ी चिन्ता शान्ति की स्थापना रही है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बिना शान्ति व सुरक्षा की स्थापना सम्भव नहीं होगी अन्यथा प्रत्येक राष्ट्र को अपनी मनमानी करने की छूट होगी।

वर्तमान समय में परमाणु बम, हाइड्रोजन बम तथा रासायनिक हथियारों का निर्माण मानव सुरक्षा के प्रश्न को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अतः राष्ट्रों के द्वारा इन संहारक हथियारों के प्रयोग की सीमा रेखा तय करना आवश्यक हो गया है अन्यथा की स्थिति में मानव सभ्यता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। कहा जाता है कि मानव के लिए सबसे कीमती उसका जीवन होता है इसलिए प्रायः सभी देशों ने जीवन के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में अपने नागरिको को प्रदान किया है। मानव जीवन को विश्व स्तर पर सुरक्षित रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व अन्तर्राष्ट्रीय विधि को आवश्यक माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रीय शक्ति को सीमित कर लोगों को सुरक्षा के लिए आश्वस्त करने का पुख्ता प्रबन्ध करता है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विस्तृत उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाला एक प्रमुख तत्व माना जाता है। यह विश्व समुदाय के राष्ट्रों के मनमाने व्यवहार को नियंत्रित कर विश्व शान्ति व सुरक्षा कि स्थापना करती है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसके अध्ययनोपरान्त आप-

1 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ , परिभाषा व स्वरूप को जान सकेंगे।

2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्यों आवश्यक है का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के व्यवहार को किस हद तक नियन्त्रित और निर्देशित करती है का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें

4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में इसकी भूमिका को समझ सकेगें।

5. अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि है या नहीं जान सकेगें।

7.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ है राष्ट्रों के द्वारा स्वीकृत नियमों का योग जो राज्यों के दूसरे राज्यों व उसके नागरिको के प्रति आचरण को निर्धारित करती है। यह नियमों का ऐसा संगठित रूप है, जिसके द्वारा संसार के राष्ट्र परस्पर एक-दूसरे के साथ शान्ति व युद्ध के समय अपने को बधा हुआ महसूस करतें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा ही होता हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1780 ई0 में जेरेमी बेन्थम ने किया। तत्पष्चात् यह शब्द उन नियमों का बोध कराने के लिए प्रयोग होने लगा जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित होतें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा अलग—अलग विद्वानों ने अलग—अलग रूपों में प्रस्तुत की है। जिनका अध्ययन निम्न वर्गों में बांटकर किया जा सकता है-

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परम्परागत परिभाषाएं— अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राचीन विद्वान परम्परागत दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए विधि के आधारभूत स्रोतों—तर्क—बुद्वि तथा न्याय के तत्वों पर बल देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कतिपय परम्परागत परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

ह्वीटन के अनुसार ''सभ्य राष्ट्रों में माने जाने वाले स्वरूप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को व्यवहार के उन नियमो के रूप में परिभाषित किया सकता है। जिन्हे विवेक न्याय के अनुरूप मानता तथा जो स्वतन्त्र राज्यो के समाज में आम सहमति पर आधारित तथा उनमें विद्यमान होता है।''

सर हेनरीमेन के शब्दों में ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक जटिल व्यवस्था है जो विभिन्न संगठनों को मिलाकर बनी है। इसमें अधिकार तथा न्याय के सामान्य सिद्धान्त है जो राष्ट्रीय विवेक के आधार पर व्यक्तियों के व्यवहार और राष्ट्र के सम्बन्धो तथा आचार- व्यवहार को समान रूप से अनुकुल बनाते हैं परम्पराओं, रीतियों तथा विचारों का संग्रह है सभ्यता तथा वाणिज्य का विकास है तथा सकारात्मक कानून की संहिता है।''

हॉल के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि आचरण के उननिश्चितनियमों में निहित है जिन्हे वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार मे ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य समझते है। जिस शक्ति के साथ सद्विवेकी, कर्तव्यपराणय व्यक्ति अपनेदेशके कानूनो का पालन करते हैं और यह भी मानते हैं कि यदि इन नियमो का उल्लंघन किया गया तो उपयुक्त संसाधनो द्वारा उन्हें लागू किया जा सकता है।''

2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि की आधुनिक परिभाषाएं- ''वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परागत धारणाओं को चुनौती दी जाने लगी है। जिससे उसे सहमति तथा सभ्य राज्यों तक सीमित कर दिया गया था। साम्राज्यवाद के पतन और राष्ट्रवाद एवं साम्यवाद के उत्थान से राष्ट्रों का परिवारविश्व समुदाय मे परिवर्तित हो गया है। जिसमें सभ्य और असभ्य के भेद के लिए कोई स्थान नहीं है और जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि को बाध्यकारी माना जाने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कुछ प्रमुख आधुनिक परिभाषाएं निम्नलिखित है-

ओपेनहींम के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन परम्परागत नियमों का समूह है जो राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी आदान-प्रदान में वैधानिक रूप से बाध्यकारी समझे जाते हैं।

ष्वार्जन वर्गर के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन वैधानिक नियमो के समूह को कहा जाता है जो सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों के बीच लागू किए जाते है तथा इसी प्रकार के विद्यमानता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान किया गया है।''

स्टार्क के शब्दों मे ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधियों का वह समूह है जिसका अधिकतर भाग व्यवहार के उन नियमो तथा सिद्धान्तो से बना है जिन्हे राष्ट्र मानने के लिए अपने आपको बाध्य होते है तथा इसलिए एक-दूसरे के साथ सम्बन्धो में सामान्यतया इनका प्रयोग करते हैं तथा जिसमे निम्नलिखित तत्व शामिल है-

(1) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो तथा संस्थाओ के संचालन सम्बन्धी विधि व नियम, उनका पारस्परिक सम्बन्ध एवं राज्य तथा व्यक्ति के साथ उनका सम्बन्ध तथा

(2) व्यक्तियों तथा गैर राजकीय इकाईयो से सम्बन्धित विधि क्योंकि ऐसे व्यक्तियो तथा इकाईयों के अधिकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय से सम्बन्धित होते हैं।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधियों का ऐसा समूह है जो राज्यों के व्यक्तियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को निर्देशित एवं नियमित करता है, इसका वैधानिक आधार है तथा इसका अस्तित्व विश्व समुदाय के भीतर इकाई के न्यायपूर्ण तथा समान नियमो के लिए है।

ह्यूगस के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमो व सिद्धान्तो का समूह है जिन्हें एक सभ्य राज्य पारस्परिक सम्बन्ध मे अपने ऊपर बाधित स्वीकार करता है और यह सम्प्रभु राज्यों की सहमति पर आधारित होते है।''

3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि कि साम्यवादी परिभाषाएं- अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा को लेकर पूर्व सोवियत संघ तथा चीन का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न रहा है जिसका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

पूर्व सोवियत संघ का दृष्टिकोण- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में पूर्व सोवियत संघ के दृष्टिकोण का ज्ञान ओलिव लिसिजन की परिभाषा में होता है जिसमें उन्होने कहा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्टो[a] के पारस्परिक सम्बन्ध एवं सहयोग, जिसमें राज्यों के शासन करने वाले वर्ग की इच्छा अभिव्यक्त होती है तथा जिसे राज्यों द्वारा व्यक्तिगत या सामूहिक दबाव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, को नियत्रित करने वाले नियमो का कुल समूह है।''

यद्यपि स्टालिन की मुत्यु के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा के सम्बन्ध में सोवियत संघ के दृष्टिकोण को संषोधित करते हुए शान्ति पूर्ण सह-अस्तित्व को भी इसका अंश स्वीकार किया गया।

चीन का दृष्टिकोण- चीनी विशेषज्ञों को हो वू-षुआंग एवं मचूनजेरोमि ऐलनकोहन एवं हुन्दाह चिउ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के तीन मुख्य तत्व हैं-

1. यह शासक वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

2. यह सामाजिक सम्बन्धो को नियमित करने वाले नियमो का कुल समूह है।

3. इसमें प्रवर्तनीय तत्व भी विद्यमान हैं।

इस प्रकार यह दृष्टिकोण मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक प्रकार का मान्यता प्राप्त कानून है किन्तु यह स्वतः कार्यान्वित नियमों का समूह नहीं है तथा केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं।

4. विवादो के आधार पर न्यायाधीशों के विचार- समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष आये विवादों में न्यायाधीशों भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्पष्ट करने प्रयास किया है। जिसमें कुछ प्रमुख विवादो में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में न्यायाधीशों की राय निम्न रूपों में में उभर कर सामने आयी-

वैस्ट रेण्ड सेण्ट्रल गोल्ड माइनिंग कम्पनी लिमिटेड और किंग के विवाद में दी गयी परिभाषा के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत उन नियमो से है जो उनके नागरिकों के पारस्परिक आचरण को निर्धारित करते हैं।''

एस.एस.लोटस विवाद- यह विवाद फ्रान्स एवं टर्की के बीच हुआ था अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायलय ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में कहा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अभिप्राय उन सिद्धान्तो से है जो स्वतंत्र राज्यो के बीच लागू होते हैं।''

पैकेट हवाना वनाम लोला विवाद में कहा गया कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि सभी राज्यो की सहमति पर आधारित वर्तमान कानून है | यह निश्चित करता हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि संयुक्त राज्य के कानून का भाग हैं ।''

क्वीन वनाम केन के विवाद में मुख्य न्यायाधीश लार्ड कोलेरिज ने कहा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि चलनो का वह समूह है जिनका सभ्य राज्यों ने अपने पारस्परिक सम्बन्धो में पालन करना स्वीकार कर लिया है।''

उर्पयुक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती है-

1.अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यो के आपसी व्यवहारो का नियमन करती है।

2.अन्तर्राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय नियमो एवं सिद्वान्तो का समूह है ।

3.इन्हे राज्य तथा सामान्यतःविश्व समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

4.अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्रोत परम्पराएं, प्रथाएं, न्यायिक निर्णय तथा सभ्यता के आधारभूत गुण आदि हैं।

5.अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन सद्भावना एवं कर्तव्यपरायणता के रूप में किया जाता है क्योंकि ये सभ्य राज्यों द्वारा स्वयं पर लगाये गये प्रतिबन्ध हैं।

6. अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उद्देश्य राष्ट्र के अधिकारों को स्पष्ट करते हुऐ उनके मध्य उत्पन्न विवादों का निस्तारण करना तथा उनमें सहयोगात्मक व्यवहार विकसित करना है।

7.4 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आवश्यक तत्व

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं -

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक कानूनी पद्धति है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं कानूनी पद्धति है जिसके निर्माण में निम्न तत्वो की भूमिका होती है-

i.विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पाये जाने वाले पारस्परिक व्यवहार व आचरण के नियम

ii.अन्तर्राष्ट्रीय रीति- रीवाज व परम्पराएं

iii.विभिन्न राष्ट्रों के मध्य किये जाने वाले सन्धि या समझौते तथा अभिसमय

2. अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत नियम- अन्तर्राश्ट्रीय विधि मूलरुप से नियमों का संग्रह है जिसे प्रायः सभी स्वतंत्र सभ्य राज्य पारस्परिक सम्बन्धो के संचालन के लिए स्वीकार करते हैं। राज्यों तथा राज्यों के सामान्य समाज द्वारा स्वीकृत होने के कारण राज्य वैध रूप से इनका पालन करने के लिए बाध्य होते हैं।

3. इसकी प्रकृति सार्वभौमिक है- वर्तमान में साम्राज्यवाद व उपनिवेश का अन्त हो गया है। परिणामस्वरुप राज्यो का स्वतंत्र एवं सम्प्रभु स्वरुप उभरकर सामने आया है। अतः वर्तमान युग स्वतंत्र सभ्य राज्यो का युग कहा जा सकता है। वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राज्यों की संख्या 193 हो गयी है। ये सभी राज्य समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने का पक्षपोषण करते हैं।

4. विवेक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन कराने वाली वास्तविक शक्ति है- विवेक वह वास्तविक तत्व है जो व्यक्ति को सत्-असत का बोध कराता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन इसी सत्-असत् के ज्ञान पर आधारित होता है। विवेक ही इस बात को समझने में भी मदद करता है कि क्या राष्ट्र के हित में है और क्या अहित में। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पालन के पीछे वास्तविक शक्ति विवेक ही है।

अभ्यास प्रश्न 1

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कब और किसने किया था ?
2. स्टॉलिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ के दृष्टिकोण को संषोधित करते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अंश स्वीकार किया गया। सत्य है/असत्य है
3. एस.एस. लोटस विवाद सम्बन्धित था -
   (i) जापान व चीन से (ii) फ्रं\स व टर्की से
   (iii) अमेरिका व सोवियत संघ से (iv) इनमें से कोई नहीं
4. विवेक को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन कराने वाली वास्तविक शक्ति नहीं माना जाता है।सत्य है/असत्य है

7.6 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तव में विधि माना जा सकता है अर्थात क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि उसी रूप में विधि है जिस अर्थ में राष्ट्रीय विधि। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्वानो में दो तरह का दृष्टिकोण देखने को मिलता हैं। प्रथम दृष्टिकोण को मानने वाले इसे विधि मानने से मना करते है, तो द्वितीय दृष्टिकोण को मानने वाले इसे विधि मानते हैं। दोनो दृष्टिकोण के समर्थक अपने - अपने विचारो के पक्ष में तर्क भी प्रस्तुत करते हैं जिसका अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है।

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि नहीं है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि नहीं मानने वाले विद्वानो में थामस हॉब्स, जान ऑस्टिन, कॉलरिज, प्यूफेन डार्फ, हालैण्ड, जेथरो ब्राउन, लार्ड सेलिसबरी आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन विद्वानो का तर्क है कि विधि किसी सम्प्रभुताधारी की इच्छा का प्रतिफल होता है। जिसके पीछे आवश्यक रूप से कोई न कोई बाध्यकारी शक्ति होती है। जो उन लोगो को भी विधि का पालन करने के लिए बाध्य करती है। जो इसका पालन करने की इच्छा नहीं रखतें है।

ऑस्टिन के मतानुसार ''विधि मानवीय आचरण की उस नियमावली को कहते है। जिसको सार्वभौमिक राजनीतिक सत्य द्वारा प्रतिपादित एवं लागू किया जाता है।'' इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है क्योकि इसमें न तो कोई सार्वजनिक सत्य होती है जिससे मानव व्यवहार को नियन्त्रित व मर्यादित किया जा सके और न ही इसमें विधि निर्माण की कोई संगत व्यवस्था होती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में उसका मानना है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्ची विधि नहीं वरन यह तो नैतिक नियमो की एक संहिता मात्र है।''

हॉलैण्ड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि 'विधिशास्त्र का लोप बिन्दु अथवा पतनोन्मुख' केन्द्र है। इसका आषय है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधिशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे पहले ही विधिशास्त्र की सीमाएं समाप्त हो जाती हैं। वास्तव में अन्तर्राश्ट्रीय विधि नैतिक नियमों का संग्रह मात्र है। जिनको मानना या न मानना राष्ट्र की इच्छा पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न होने पर निर्णय करने वाली कोई सर्वमान्य संस्था भी नहीं है। हॉलैण्ड के शब्दों में ''ऐसे नियम जिसका पालन राज्यों द्वारा अपने पारस्परिक व्यवहार में एक-दूसरे के प्रति किया जा सकता है और जिसे राज्य स्वेच्छा से आदतवष मानते है विधि श्रेणी में केवल नम्रतावष रखे जाते है। ''हॉलैण्ड दो कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधिशास्त्र का तिरोधान बिन्दु मानता है- प्रथम इसमें दोनो पक्षो से ऊपर विवाद का निर्णय करने वाली कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है और द्वितीय ज्यों-ज्यों राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के रूप में संगठित होते हैं त्यों-त्यों इसका स्वरूप लुप्त होता जाता है और यह

संघीय सरकार के सार्वजनिक कानून (जो एक कमजोर कानून होता है) का रूप धारण करता जाता है।

पं0 जवाहर लाल नेहरु भी इस मत से सहमत थे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि नहीं है। दिल्ली में 1951 में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय विधि परिषद की भारतीय शाखा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि ''अन्तिम विश्लेषणके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई अस्तित्व नहीं है। यह बात अवश्यहै कि इस सम्बन्ध में समझौता करने का प्रयत्न किया गया था पर अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय कानून या इस विषय में कोई कानून तभी कोई मान्यता रखता है जब उसके पीछे कोई शक्ति हो, जो किसी श्रेष्ठतर शक्ति या कोई समूह जो अधिक शक्ति रखने वाला हो, द्वारा प्रदान की गयी हो। जब कोई संघर्ष- जैसे युद्ध प्रारम्भ होता है तो सब कानून समाप्त हो जाते है, रह जाती हैं, केवल वकीलों की बहस।''

जस्टिस कोलेरिज ने फ्रेंकोनिया विवाद में अपना निर्णय देते हुए कहा था कि ''सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक अयथार्थ शब्द है। इसकी अयथार्थता को मन में न रखा जाय तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कानून शब्द से यह सूचित होता है कि कोई इसको बनाने वाला है तथा इसके उल्लंघनकर्ता को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय हो किन्तु सम्प्रभु राज्यों के लिए कोई विधि निर्माता नहीं है और नहीं किसी न्यायालय को यह अधिकार है कि वह राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने के लिए बाध्य कर सके और इसकी अवहेलना करने वाले राज्यों को दण्डित कर सके।''

हॉब्स तथा प्यूफेन डोर्फ ने भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को नकारते हुए कहा था कि ''राष्ट्रों का कोई निश्चित कानून नहीं जिसके पीछे कानूनी शक्ति निहित हो वह किसी सर्वोच्च सत्य की आज्ञा नहीं है।''

अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि नहीं मानने वाले विद्वानों ने अपनी धारणा के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये है-

(i) अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी प्रभुसत्ताधारी की आज्ञा नहीं है- ऑस्टिन के अनुसार ''सम्प्रभु का आदेश ही कानून है।'' कानून की इस परिभाषा के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विधि होने के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो उत्तर निष्चय ही नकारात्मक होगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण या घोषणा करने का कार्य किसी सम्प्रभु द्वारा नहीं किया जाता है बल्कि यह तो राष्ट्रों की आपसी सहमति या परम्पराओं के माध्यम से अस्तित्व में आती है।

(ii) बाध्यकारी शक्ति का अभाव- कानून का एक लक्षण यह भी माना जाता है कि इसके पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति होती है जो इसका पालन सुनिष्चित करती है तथा जो इसका पालन नहीं करता

है उसे दण्ड देती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती है। राज्यों के द्वारा इसका पालन स्वेच्छा से नैतिक संहिता के रूप में किया जाता है। यदि कोई राष्ट्र इसका पालन नहीं करता है तो ऐसी कोई व्यवस्था या बाध्यकारी शक्ति नहीं है जो उसे इसका पालन करने के लिए बाध्य कर सके या उल्लंघनकर्ता राष्ट्र को दण्डित कर सके।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करने वाली कोई संस्था नहीं है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करने वाली कोई संस्था उस रूप में नहीं है जिस रूप में राष्ट्रीय विधियों की व्याख्या राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा की जाती है। राष्ट्रों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवाद यदि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष सुनवायी के लिए प्रस्तुत किये जाते है तो भी न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए कोई राज्य बाध्य नहीं होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि के रूप में स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायालय के निर्णय को बाध्यकारी बनाया जाय।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय विधि को निर्मित और लागू करने वाली संस्था का अभाव है- विधि का निर्माण व्यवस्थापिका द्वारा तथा क्रियान्वयन कार्यपालिका द्वारा किया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी संस्थाओं का अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का निर्माण करने वाली संस्था के अभाव में औचित्यपूर्ण विधियों का निर्माण सम्भव नहीं होगा। कार्यपालिका के अभाव में विधियों का कड़ाई से पालन भी नहीं हो पायेगा। जबकि विधि के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उसका पालन सुनिष्चित कराया जाय और जो भी पालन न करे उसे दण्डित करने का प्रावधान किया जाय।

(v) संहिताबद्ध न होने के कारण अबोधगम्य- विधियों के अस्तित्व के लिए यह भी आवश्यक है कि वह बोधगम्य हो अर्थात उन्हें आसानी से समझा जा सके। बोधगम्यता के अभाव में विधियों का पालन संदिग्ध होगा। अन्तर्राष्ट्रीय विधि अधिकांशराष्ट्रों की सहमति व परम्पराओं पर आधारित होने के कारण यत्र-तत्र बिखरी है अर्थात् यह सहिताबद्ध नहीं है इसलिए इसे आसानी से जाना व समझा नहीं जा सकता। ऐसे अनिष्चित व अबोधगम्य विधि को विधि कहना अतिरंजना पूर्ण है।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन प्रायः होता है- अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रत्येक राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य अपने राष्ट्रीय हित की पूर्ति करना होता है। जब कभी किसी राष्ट्र को यह लगता है कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि उसके राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने के मार्ग में रूकावट पैदा कर रही है तो वह इसका उल्लंघन करना प्रारम्भ कर देता है। राष्ट्रों में इस भावना का विकास इसलिए भी हो रहा है क्योंकि वे जानते है कि इसका उल्लंघन करने पर भी किसी सजा का प्रावधान नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कुछ विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानने पर आपत्ति करते हैं। उनका कहना हे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि नहीं बल्कि शुद्ध नैतिकता हैं जिसका पालन करना या न करना राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक विधि है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानने वाले विद्वानों में सर हेनरी मेन, लार्ड रसेल, ब्रियर्ली, स्टार्क, ओपेनहींम, हॉल, फैनविक इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानने वाले विद्वानों का कहना है कि विधि के पीछे केवल दबाव ही आवश्यक नहीं है और यदि है तो कुछ हद तक संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में उल्लंघनों को रोकने के लिए भौतिक बल तथा अनुज्ञप्ति का प्रावधान है।

सर हेनरीमेन के अनुसार किसी नियम को विधि मानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति हो। यह सत्य है कि कभी-कभी विधि का पालन व्यक्ति भय से करता है किन्तु दण्ड के भय से विधि का पालन करने वाले लोगों की संख्या समाज में कम ही होती है। दण्ड के भय से विधि का पालन करने वाले लोग अपराधी प्रवृत्ति के होते है। सामान्य व्यक्ति तो विधि का पालन स्वेच्छा से इसलिए करता है क्योंकि वह उनके विश्वासों, परम्पराओं और रीति-रीवाजों के अनुकुल होता है तथा समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

लार्ड रसेल के अनुसार ''ऐतिहासिक रूप से विधि का विकास परम्पराओं के माध्यम से हुआ है। कुछ समाजों में विधि बनाने वाली संस्था न होने पर उनके प्रथाओं तथा परम्पराओं का विकास हो जाता है जो प्रायः विधि जैसी बाध्यता रखते हैं। उदाहरण के लिए व्यापारिक विधियों का उल्लेख किया जा सकता है। लोकतन्त्रात्मक सरकारों में सार्वजनिक इच्छाएं विधि का आधार होती है। विधि बाध्यकारी शक्ति द्वारा थोपी गयी आज्ञा नहीं होती वरन् सहमति पर आधारित होती है। राष्ट्रों ने अपने पास्परिक व्यवहार के लिए जो नियम विकसित किये हैं उनको अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नाम दिया जा सकता है।

ब्रायर्ली का मत है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि विश्व के अनेक राष्ट्रों के पारस्परिक सम्पर्क का परिणाम है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि राष्ट्र यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अस्तित्व है और वह उसको मानने के लिए बाध्य है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन साधारण नागरिक द्वारा किये गये कानून के उल्लंघन की भांति कर सकते हैं। केन्द्रीय शक्ति न होने पर भी किसी भी देश का विदेशी कार्यालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि निर्धारित करता है तथा अपने द्वारा निर्धारित विधि को कार्यरूप में परिणत पर वास्तविक विधि का रूप प्रदान करता है।

पोलक के मतानुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार यदि केवल नैतिकता रही होती तो विभिन्न राज्यों द्वारा विदेश नीति की रचना नैतिक तर्को के आधार पर ही जाती किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। विभिन्न राष्ट्र जब किसी बात का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं तो इसके लिए वे नैतिक भावनाओं का सहारा नहीं लेते वरन् पहले के उदाहरणों, सन्धियों एवं विशेषज्ञों की सम्मतियों का सहारा लेते है।'' कानून के अस्तित्व के लिए आवश्यक शर्त केवल यह नहीं है कि राजनीतिक

समुदाय होना चाहिए बल्कि इसके सदस्यों को यह समझना चाहिए कि उन्हें आवश्यक रूप से कुछ नियमों का पालन करना हैं।

स्टार्क ने भी निम्नलिखित तर्कों के आधार पर ऑस्टिन के विचारों की आलोचना करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रबल समर्थन किया-

(i) आधुनिक ऐतिहासिक विधिशास्त्र से कानून के सिद्धान्त में बल प्रयोग को निकाल दिया गया है जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि बहुत से समुदायों में इस प्रकार की विधि मानी जाती है जिसका निर्माण उस राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा नहीं हुआ है परन्तु इस प्रकार की विधि राज्य की सच्ची विधायिनी शक्ति द्वारा बनायी गयी विधि से भिन्न नहीं है।

(ii) ऑस्टिन का सिद्धान्त उसके समय में भले ही ठीक रहा हो परन्तु वर्ममान समय के लिए वह ठीक नहीं है। पिछली अर्द्धशताब्दी में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधियां अस्तित्व में आयी है जिनका आधार समझौते और सन्धियां रही है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए जो संस्थाएं जिम्मेदार हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि को केवल नीति संहिता नहीं समझती हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ सच्चे अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की वैधानिकता पर आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानने वाले विधिशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोणों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं-

(i) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए प्रभुसत्ताधारी का होना आवश्यक नहीं- अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि यह सम्प्रभु राज्यों के मध्य एक विधि के रूप में स्थापित होती है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व हेतु किसी प्रभुसत्ताधारी का होना आवश्यक नहीं है।

(ii) विधि सदैव सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं होती है- ऑस्टिन विधि को सम्प्रभु का आदेश मात्र मानता है जबकि विधि केवल सम्प्रभु का आदेश मात्र नहीं होती है। विधि रीति-रिवाज, परम्पराओं, सामाजिक स्वीकृति आदि का प्रतिफल होती है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि कहा जा सकता है क्योंकि अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विधियां परम्पराओं पर ही आधारित होती है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि नैतिकता से भिन्न है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि नैतिकता से भिन्न है क्योंकि अधिकांश राज्य इसका पालन विधि मानकर ही करते हैं। नैतिक नियम केवल अन्तःकरण को प्रभावित करते है इसलिए इसके पालन का आधार अन्तःकरण ही होता है जबकि इसके विपरीत कानून का पालन बलपूर्वक कराया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे भी कुछ हद तक बाध्यकारी

शक्ति पायी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करने पर राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के प्रतिबन्ध, जनमत की निन्दा आदि का सामना करना पड़ता है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वीकृति पर आधारित है- यह कहना गलत है कि विधि के पीछे केवल शक्ति का बल होता है। जनमत, सामाजिक उपयोगिता तथा नैतिकता भी विधि की शक्ति के आधार होते है। वर्तमान समय मेंविश्व के अधिकांश राज्य अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों तथा सन्धियों का आदर करते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार है। जो राज्य इसकी अवहेलना करते हैं वे भी अपने कार्यो की पुष्टि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि को ही उद्धृत करते हैं। भारत, अमेरिका तथा इग्लैण्ड के न्यायालयों ने भी इसकी उपस्थिति स्वीकार की है।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय का आधार अन्तर्राष्ट्रीय विधि है- आज अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा अपना निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परिप्रेक्ष्य में ही दिया जाता है जिसे मानना प्रत्येक सभ्य राज्य अपना कर्तव्य मानता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास के महत्वपूर्ण साधन हैं।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय विधि निर्मात्री संस्थाओं का प्रादुर्भाव- वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संन्धियों, समझौतों तथा एजेंसियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के निर्माण का कार्य किया जा रहा है। स्टार्क के अनुसार अब अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन प्रक्रिया द्वारा तेजी से शुरु हो गया है ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सुदृढ़ मान्यता मिल जानी चाहिए।

(vii) संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने वाली एजेंसी है- निसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को प्रभावी ढंग से लागू करने वाली कोई संस्था नहीं है फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ इसे लागू करने वाली एजेंसी के रूप में कार्य करने का प्रयत्न कर रहा है। अब किसी भी दोषी राज्य को अवपीड़ित करने के लिए उसके पास राजनीतिक, आर्थिक और कुछ हद तक सैनिक साधन भी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रचलित उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं काविश्लेषणकरने के उपरान्त यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में विधि है किन्तु अभी यह उस प्रकार विकसित नहीं हो पायी है जिस प्रकार सम्प्रभु राज्यों के कानून विकसित हुए हैं। इसलिए कहा जाता है कि जैसे किसी कमजोर आदमी को उसकी कमजोरी के कारण आदमी होने की श्रेणी से वंचित नहीं किया जा सकता वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि को उसकी कमजोरी के कारण विधि की पदवी से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

7.7 अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भूमिका

अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक गतिशील एंव विकासोन्मुख विधि है जिसका निरन्तर विकास होता जा रहा है। इसलिए इसके विकास के साथ-साथ इसकी भूमिका भी परिवर्तित होती जा रही है। प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध केवल युद्ध एवं शान्ति के प्रश्नों तक सीमित था किन्तु सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं प्राविधिक आवश्यकताओं के कारण राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता बढी है। आज दुनियाँ के राष्ट्र अपनी आवष्कताओं को पुरा करने के लिए व्यापार को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उददेष्य न सिर्फ युद्धों को रोकना व शान्ति स्थापित करना रह गया है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुव्यवस्था और सहयोग तथा विश्व कल्याण में अभिवृद्धि करना भी बन गया है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र यह महसूस करने लगा है कि आपसी सम्बन्धों के संचालन हेतु कुछ नियमों एवं कानूनों का होना परम आवश्यक है। राष्ट्रों की यह आपसी सहमति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास को गति प्रदान की है।

प्रारम्भिक अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को उपनिवेषवादी व साम्राज्यवादी युग की विरासत समझा जाता था। कुछ विद्वान इसे पश्चिमी यूरोपीय सभ्यता की देन भी कहते थे क्योंकि उस समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उद्देश्य पश्चिमी शक्तियों के न्यस्त राष्ट्रीय स्वार्थो की पूर्ति करना तथा उनकी शक्ति को बनाएं रखना था। वे ऐसे विधियों को ही स्वीकृति प्रदान करते थे जिनसे उन्हे गरीब और गुलाम देशों से सभी प्रकार की रियायतें मिलती रहे और वे अपने राष्ट्रजनों के हितो की पूर्ति करते रहें। इसके लिए पश्चिमी शक्तियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को आधार बनाकर कमजोर देशों के साथ कई असमान सन्धियां की गयी जिनका प्रयोग कमजोर राष्ट्रों के षोषण हेतु किया गया। पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के ओट में महाशक्तियां कमजोर और छोटे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करती रहती थी। कमजोर और छोटे राष्ट्र ऐसे विधियों का पालन करनें के लिए मजबूर होते थे जिनकों महाशक्तियों के द्वारा मान्यता प्रदान की जाती थी। एशिया व अफ्रीका के तमाम राष्ट्र पराधीन थे इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में उनकी भूमिका नगण्य तथा उपेक्षित थी। इस सम्बन्ध में महाशक्तियों द्वारा लिया गया निर्णय ही उनका भी निर्णय माना जाता था क्योंकि कि के पश्चिमी महाशक्तियो के गुलाम थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तन के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी कैसे अछता रह सकता है। एशिया व अफ्रीका के तमाम देश उपनिवेश एवं साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्ति प्राप्त कर लिए है ये राष्ट्र आज पश्चिमी महाशक्तियो के एकाधिकार को तोड़ते हुए विश्व समाज के सक्रिय भागीदार बन गये हैं। एक समय इन देशों को उपेक्षा के दृष्टि से देखा जाता था किन्तु आज ये राष्ट्र अविकसित और छोटे होने के बावजूद अपने संख्या बल के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। पश्चिमी देशों का साम्राज्य मरणोन्मुख है। नवस्वतन्त्र

राष्ट्रों की संख्या में वृद्वि के कारण कही उत्तर बनाम दक्षिण का संघर्ष हो तो कही नव उपनिवेष के रूप में शोषण का एक नया रूप अवतरित हुआ हैं। राष्ट्रों के मध्य शान्ति व सहयोग बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की भूमिका सबल हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीष अलवारेज ने लिखा है कि ''पूर्व में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास बड़ी मन्द गति से सुप्रतिष्ठित अभिसमयो तथा रीति-रिवाजो के अनुसार होता था अथवा विधि शरित्रयो द्वारा विकसित किये जाते थे। यह प्रकिया अत्यन्त धीमी थी लेकिन अभी हाल में होने वाली सामाजिक क्रान्ति के कारण जनता के जीवन में आने वाली विलक्षण गतिशीलता के परिणाम स्वरूप नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और इसमें बनायी गयी विभिन्न संस्थाओ के कारण तथा जनता की आकांक्षाओं एवं आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण तेजी से हो रहा है। आजकल यह सामान्य धारणा वैध एवं सत्य प्रतीत नहीं होती कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण केवल राज्यों द्वारा किया जाता है। भविष्य में हम नये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण के लिए किन्हीं अन्य स्रोत्रो की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और कानून वेत्ताओ की ओर अधिक देखा करेगें।''

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न समस्याओं का निराकरण करने के लिये बनायी गयी कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विधियों व उनकी भूमिका का उल्लेख निम्नवत् किया जा सकता है-

1. बारुदी सुरंगों पर रोक- मानव विरोधी बारुदी सुरंगों के बनाने, प्रयोग करने, इकट्ठा करने से रोकने के लिए की गयी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन गयी हैं। 1977 में ओटावा में इस सन्धि पर लगभग 113 देशों ने हस्ताक्षर किये थे, निर्धारित 40 देशों की स्वीकृति के उपरान्त यह लागू हो गयी है इस सन्धि के द्वारा एक कानूनी ढ़ांचा तैयार किया जा रहा है जिससे बारुदी सुरगों से प्रभावित देशों में इसे समाप्त किया जा सके।

2. आतंकवाद के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि- 12 जनवरी 1999 को आतंकवादियों द्वारा की जाने वाली बमबारियों के विरुद्ध एक सन्धि की गयी है। 3 दिसम्बर 1999 तक यह देशों के हस्ताक्षर के लिये खुली रही और 22 देशों की स्वीकृति मिलने के बाद इसे लागू कर दिया गया। इस दस्तावेज में कुल 24 अनुच्छेद हैं। जिसमें उन आपदाओं का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार देश-विदेशी अपराधियों को उस देश के हवालें करेगे जहां उन्होनें आतंकवादी अपराध किये हैं। यह भी व्यवस्था की गयी है कि इस सम्बन्ध मेंदेशआपस में सन्धियां करेगें और आतंकवादी बमबारियां करने वालों से निपटने के लिये आवश्यक कानूनी ढाँचा तैयार करेंगें।

3. अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना- 13 जुलाई 1999 को रोम के सम्मेलन में 160 देशों में से 113 देशों द्वारा एक सन्धि पर हस्ताक्षर किया गया जिससे एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय के स्थापना का मार्ग प्रसस्त हो गया है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका इस सन्धि

को मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह भविष्य में अपने सैनिकों को किसी प्रकार के फौजदारी मुकदमों से बचाना चाहता था। भारत ने इस सन्धि पर हुए मतदान में भाग नहीं लिया था क्योंकि इस सन्धि में भारत की इस मांग को अस्वीकृत कर दिया गया था कि परमाणु बमों के प्रयोग को भी युद्ध अपराध घोषित किया जाए। इस न्यायालय की प्रभावशीलता के प्रति निराशा के बावजूद साधारणआशायह है कि यह देशों में न्यायिक उत्साह को बढावा देगा। जिससे वे ऐसे अपराधों को रोकने के लिये कदम उठाएगें जो मानवता के विरूद्ध युद्ध अपराध होगें।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानवता के प्रति उत्पन्न संकटों नेविश्व समुदाय की चिन्ता रुपी आग को प्रज्वलीत कर दिया हैं। परिणामस्वरुप प्रायः सभी स्वतन्त्र एवं सभ्य राष्ट्र शान्ति सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्यवस्था को स्वीकार कर रहे हैं।विश्व समुदाय के ऐसे राष्ट्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रभावकारी होती जा रही है जो शन्ति व सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न कर रहे है। आज संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का पालन कराने वाले एक ऐसे संगठन की भूमिका अदा करने लगा है जिसके कारण उसेविश्व सरकार का प्रतिरुप माना जाने लगा है। इसके अलावा वर्तमान लोकतान्त्रिक युग मेंविश्व लोकमत की बढ़ती भूमिका ने भी राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के पालन के लिए प्रेरित एवं बाध्य किया है।विश्व शान्ति, सुरक्षा व कल्याणकारी कार्यक्रमों के संलचालन में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भूमिका प्रभावकारी सिद्ध हो रही है।

7.8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध-

पारस्परिक निर्भरता अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का विवाद रहित तथ्य है। आज सभी राष्ट्र अपनी आष्यकताओं की पूर्ति के लिये एक-दूसरे पर निर्भर होते जा रहे हैं। यह निर्भरता जहां राष्ट्रों के मध्य सहयोग को बढ़ाती है वही यह राष्ट्रों के मध्य विवाद का भी कारण बनती है। राष्ट्रों के मध्य शक्ति संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रतिपाद्य विषय है तो विवादों की रोकथाम व अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था स्थापित करना अन्तर्राष्ट्रीय विधि का लक्ष्य है। इसलिए दोनों में निकटता होना प्राकृतिक एवं स्वाभाविक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्धों का उल्लेख निम्नवत् किया जा सकता हैं-

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विधिक आधार है- अन्तर्राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विधिक आधार है। इसलिए प्रत्येक राज्य अपने अधिकारों की वकालत करने के लिये जहां इसका प्रयोग ढ़ाल की तरह करता है तो वहीं दूसरे राज्यों की नीतियों और मांगो की आलोचना के लिये कानूनी षस्त्र की तरह। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के महत्व को स्पष्ट करते हुए ऐलन जेम्स ने लिखा है कि ‘‘अन्तर्राष्ट्रीय विधि का महत्व बड़ा टिकाऊ तथा व्यापक है यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के उतार-चढ़ाव को निंयन्त्रित ही नहीं करता वरन् यह तो राजनीतिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य ढाँचा पेश करता है। इसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यदि अल्पमत नहीं है तो

शब्द से भयंकर अर्थ में अराजकता के षिवाय और कुछ नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय रुप में जैसा की और कही है विधि व्यवस्थित सम्बन्धों का सहगामी है।''

2. राष्ट्र प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार आचरण करते हैं- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों काविश्लेषणकरने पर यह ज्ञात होता है कि राष्ट्रों द्वारा आपसी सम्बन्धों का निर्धारण करते समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सहारा लिया जाता है। राष्ट्रों के संविधान न सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्मान करते है अपितु उनका पालन करने का वादा भी करते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय संविधान के भाग चार में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में कहा गया है कि ''राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को यथावत सम्मान देगा।'' अमेरिकी संविधान ने भी माना है कि ''सन्धियांदेशके उच्चतम् कानून का भाग होंगी। ब्रिटेन में भी यह व्यवस्था है कि सभ्य राज्यों द्वारा स्वीकृत व्यवहार नियम के रुप में मान्य होंगें। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र विन्दु राज्य आपसी सम्बन्धों के संचालन में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुकुल आचरण करते हैं।

3. कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप कार्य करती है- अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित को पूरा करने का एक सषक्त साधन कूटनीति को माना जाता है। कूटनीति राष्ट्रों केविदेशनीति का मुख्य उपकरण मानी जाती है। जिसके माध्यम से राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को अपने पक्ष में करते है। कूटनीतिक सम्बन्धों का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ही किया जाता है अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्ष के लिए बुलायें जाने वाले सम्मेलन उन्हीं नियमों के आधार पर किये जाते है। जिनका संहिताकरण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूप में किया गया होता है। राज्यो द्वारा नये राज्यों को मान्यता प्राप्त प्रदान करनें में भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्देषन में ही निर्णय लिया जाता हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में अपने कार्यों को उचित ठहराने तथा विरोधियों के विचारों का खण्डन करने लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सहारा लिया जाता है।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संस्थानीकरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यवस्थित तथा निर्देशित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। तो स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रही है। एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शान्ति व सुरक्षा के स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का होना अपरिहार्य है तो दूसरी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय विधियो के निर्माण के लिए राष्ट्रों में मधुर सम्बन्धों का होना आवयष्क है क्योंकि राष्ट्रों की आपसी सहमति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का आधार है। आपसी सहमति के बिना न तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण किया जा सकता और न ही उनका क्रियान्वयन। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बिना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हितो को नियमित करना भी कठिन है। इस प्रकार कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है।

अभ्यास प्रश्न 2

1.अन्तर्राष्ट्रीय विधि को 'विधि शास्त्र का लोप बिन्दु' अथवा पतनोन्मुख केन्द्र मानता है।

i.हॉलैण्ड ii. सेलिसबरी

iii. हॉब्स iv. इनमें से कोई नहीं।

3. द्वितीयविश्व युद्ध के बाद सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है।

4. बारूदी सुरंगो पर रोक लगाने के लिए ओटावा सन्धि कब की गयी थी ?

7.10 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण मधुर सम्बन्धो का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नियमों का होना आवश्यक है। आजदुनियाँके राष्ट्रों द्वारा आपसी सम्बन्धों के निर्धारण में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के आपसी सहमति पर ही आधारित है क्योंकि इसके पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं पायी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों में इस बात पर अत्यधिक मतभेद है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि माना जाय या नहीं। आज यह बात स्वीकार की जाने लगी है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक विधि है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि सभी सभ्य एवं सम्प्रभु राज्यों कीविदेशनीतियों के निर्माण का आधार बन गयी है इसके पीछे राष्ट्रों की यह मान्यता है कि बिना नियम-कानून के राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को शान्तिपूर्ण रखना सम्भव नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राष्ट्रों की शक्ति को सीमित कर सबके हित को पूरा करना अन्तर्राष्ट्रीय विधि का ध्येय है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सबसे बड़ी कमजोरी उसके पीछे बाध्यकारी शक्ति या इसे लागू कराने वाली संस्था का न होना माना जाता है। यद्यपि आज कुछ हद तक इस धारणा को स्वीकार किया जाने लगा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण करने वाली तथा सुरक्षा परिषद उसके क्रियान्वित कराने वाली संस्था के रूप में उभर रही है। इसके लिए सुरक्षा परिषद राजनीतिक व आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के अलावा कुछ हद तक सैनिक शक्ति का सहारा लेने में भी कारगर हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे एक शक्ति के रूप में कार्य करता है।विश्व लोकमत के भय से सामान्य रूप से दुनियाँ का कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकुल आचरण करने की हिम्मत नहीं करता है। यदि ऐसा करना पड़ा तो राष्ट्र विश्व लोकमत को इस बात के लिए संन्तुष्ठ करने का प्रयास करता है कि उसका कार्य औचित्यपूर्ण अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के हित में है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्बन्धो की जटिलता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितो के प्रति उग्र होते जा रहे है। ऐसे में अन्तर्राष्ट्रीय विधि ही वह साधन है जो राज्यो की राष्ट्रीय

शक्ति को सीमित कर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में टकराव या विवाद को नियन्त्रित कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शान्ति व सुरक्षा का सपना अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा ही पूरा हो सकता है। इसलिए वर्तमान समय में प्रायः सभी राष्ट्रों के द्वारा यह स्वीकार किया जाने लगा है कि आपसी सम्बन्धो के संचालन में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन किया जाना चाहिए। यही वह तरीका है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शुचिता की स्थापना कर राष्ट्रों कोविश्व कल्याण की दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकती है और आवश्यकता पड़ने पर बाध्य भी कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अभाव में शान्ति व सुरक्षा स्थापित नहीं की जा सकती है इस लिए विश्व समुदाय के सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि को मान्यता प्रदान करने के साथ-साथ इसे अपने आचरण में स्थान देते है। जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अधिकांशराष्ट्रों के संविधान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने की व्यवस्था की गयी है।

7.11 शब्दावली

1. विधि - व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित नियम
2. संगठन - ऐसा मानव समूह जोनिश्चितउद्देश्य के लिए आबद्ध हो
3. परम्परागत -प्राचीन समय से प्रचलित
4. राष्ट्रवाद -राष्ट्र के प्रति उग्र लगाव
5. सभ्य -मर्यादित आचरण करने वाला
6. न्यायालय -विधि के अनुरूप निर्णय करने वाला
7. नागरिक - राष्ट्र का निवासी जिसे नागरिक अधिकार प्राप्त हो
8. न्यायिक निर्णय - न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय
9. सार्वभौमिक -सभी जगह समान रूप से मान्य
10. बाध्यकारी -जिसे मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है
11. व्यवस्थापिका - विधि निर्माण करने वाली संस्था
12. कार्यपालिका - विधियों को क्रियान्वित करने वाली संस्था

7.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. 1780 में जेरेमी बेन्थम ने किया था ,2.सत्य है,3.फ्रान्स व टर्की से, 4. असत्य है

अभ्यास प्रश्न 2

1.हॉलैण्ड,2. ऑस्टिन,3. सत्य है, 4. 1977 में

7.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ. एस. सी. सिंघल, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा, 2005-6।

2.हरिमोहन जैन, मैकनिकल इण्डिया लिमिटेड, जयपुर,दिल्ली 2007।

3.डॉ. एस. के. कपूर,सेण्ट्रल लॉ एजेन्सी , इलाहाबाद , 1995।

4.एम. पी. टण्डन, इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पपब्लिकेशंस,इलाहाबाद, 1995।

5.यू. आर. घई, न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी , जालन्धर,2000।

7.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.अन्तर्राष्ट्रीय विधि को परिभाषित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से इसके सम्बन्धो की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

2.क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वास्तव में कानून है? पक्ष और विपक्ष के तर्क प्रस्तुत करते हुए अपने विचार व्यक्त कीजिए।

3.अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भूमिका का अवलोकन करें।

4.अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या करें।

इकाई 8 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अर्थ एवं परिभाषा

8.4 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विशेषताएं

8.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति

8.6 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का क्षेत्र

8.7 विश्व सरकार की अवधारणा

8.8 विश्व सरकार के संगठन के उपाय

8.9 अभ्यास प्रश्न 1

8.10 विश्व सरकार की आवश्यकता एवं उपयोगिता

8.11 विश्व सरकार के मार्ग में आने वाली कठिनाईयां

8.12 संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार की दिशा में एक उल्लेखनीय कदम

8.13 विश्व सरकार की स्थापना की सम्भावना

8.14 अभ्यास प्रश्न 2

8.15 सारांश

8.16 शब्दावली

8.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.19 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग कहा जाता है क्योंकि विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास ने देशों के बीच की दूरिया कम की है। राष्ट्र अपनी आवश्यकता ओं की पूर्ति के लिए अन्योन्याश्रित होते जा रहे हैं। जिसके कारण जहां एक तरफ राष्ट्रों के बीच घनिष्ठता बढ़ी है वही दूसरी तरफ राष्ट्रों के बीच संघर्ष व टकराव भी बढ़ा है। इसलिए विश्व समुदाय के लगभग सभी राष्ट्रों के द्वारा यह महसूस किया जाने लगा है कि कोई ऐसी संस्था होनी चाहिए जो राष्ट्रों के कार्य-व्यवहार को नियन्त्रित कर राष्ट्रों के मध्य टकराव या संघर्ष को दूर करे। जिससे अन्ततः युद्धों को रोका जा सके। यही भावना अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास की जननी है।

सुरक्षा की समस्या राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों की एक युगों पुरानी समस्या रही है। यही कारण है कि जब-जब युद्ध हुए उसी के समानान्तर शान्ति स्थापित करने के लिए संगठनों का निर्माण किया जाता रहा है। यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध (1618-1648 तक) के समय वेस्टफालिया सम्मेलन, नेपोलियन के युद्धों के बाद कन्सर्ट ऑफ यूरोप, प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इसके प्रबल उदाहरण है। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति जापान के हिरोषिमा और नागाषाकी पर परमाणु बमों के हमले से हुई थी फलतः वर्तमान संहारक हथियारों के युग में शान्ति की चिन्ता और अधिक बढ़ गयी है। इसलिए आज यह महसूस किया जाने लगा है कि एक ऐसे संगठन की स्थापना की जाय जो सम्पूर्ण विश्व को शान्ति व सुरक्षा की चिन्ता से मुक्ति दिला सके। इसके लिए सबसे बेहतर विकल्प विश्व सरकार ही हो सकती है। जिस प्रकार राष्ट्रों की सुरक्षा उनकी सरकारों की नैतिक व कानूनी जिम्मेदारी होती है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सुरक्षा का दायित्व भी विश्व सरकार के कन्धों पर होगा।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के साधन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार के स्वरुप, संगठन के उपाय, विश्व सरकार की आवश्यकता एवं उपयोगिता, विश्व सरकार के स्थापना के मार्ग में आने वाली कठिनाईयां, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार की दिशा में एक उल्लेखनीय कदम तथा विश्व सरकार की अवधारणा का मूल्यांकन आदि के बारे में बात करेगें। इसके अध्ययनोपरान्त आप-

1. अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शान्ति की समस्या से परिचित होगे।
2. इस समस्या के निराकरण का उपाय क्या हो सकात है को जान सकेगें।
3. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता , स्वरूप तथा कार्य प्रणाली के बारे में जान सकेगें।
4. विश्व सरकार की स्थापना की कठिनाईयों को समझ सकेगें।

5. विश्व सरकार की उपयोगिता को समझ सकेगें।

6. संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार का विकल्प बन सकता है या नहीं का ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

8.3 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य रुप से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अर्थ राज्यों के बीच पारस्परिक लाभ के लिए समझौते द्वारा प्रतिपादित सहयोगात्मक व्यवस्था से लगाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की विधि एवं अभिकरण भी कहा जाता है। वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं ने सम्प्रभु राष्ट्रों के लिए यह आवश्यक बना दिया है कि वे विश्व शान्ति तथा समृद्धि के लिए अपनी सम्प्रभुता को सुरक्षित रखते हुए संगठनों को न सिर्फ सहायता दे बल्कि ऐसे राज्यों को सहयोग देने से भी बचे जिनके विरुद्ध उनका संगठन निवारक एवं बाध्यकारी कार्यवाही कर रहा हो। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सम्प्रभु राज्यों का ऐसा औपचारिक समूह है जिसका निर्माण कुछ निश्चित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है। जिनका उल्लेख संक्षेप में निम्न प्रकार किया जा सकता है-

चीवर एवं हैवीलैण्ड के शब्दों में ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों के मध्य स्थापित उस सरकारी व्यवस्था को कहते हैं जिसकी स्थापना सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा होती है और जो परस्पर कुछ लाभप्रद कार्यो को नियमित बैठकों व स्टाफ के जरिये पूरा करता है।''

लेरी लियोनार्ड के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसी न्यूनाधिक स्थायी संस्थाओं के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन की पद्धति है जिन्हे सदस्य राज्यों ने कुछ उत्तरदायित्व और सत्ता सौप दी है तथा जिनके द्वारा प्रत्येक सरकार अपने राष्ट्रीय हितों की अभिबृद्धि के लिए नीतियों और उद्देश्यों को आगे रख सकती है।''

वेण्डेनवोश तथा होगन के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता अभिकरणों एवं रीतियों के समूह से है जो एक ओर राष्ट्रों के मध्य उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अन्योन्याश्रय और दूसरी ओर राजनीतिक शक्तियों के विभाजन द्वारा प्रस्तुत समस्याओं को सुलझाने के लिए विकसित हुआ है। यह विश्व के राष्ट्रीय राज्यों के मध्य सहकारी सम्बन्धों की प्रक्रिया और संरचना से सम्बन्धित है।''

चार्ल्स लर्च के शब्दों में ''कुछ सामान्य उद्देश्यों के लिए संगठित किये गये राष्ट्रों के औपचारिक समूह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कहे जा सकते है। स्वरुप की भिन्नता के बावजूद उनका उदय समान प्रेरक तत्वों से होता है और उनके दर्षन तथा संगठन में महत्वपूर्ण समानता पायी जाती है।''

इगेल्टन के शब्दों में ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्वतन्त्र राज्यों का वह संगठित औपचारिक समूह है जिसकी स्थापना विश्व में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के समान कल्याण में बृद्धि करने के उद्देश्य से होती है।''

आर्गेन्स्की के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना तब होती है जब कुछ राष्ट्र संयुक्त हो जाते हैं और उनमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि औपचारिक संगठन के क्रियाषील होने से उनको लाभ भी होगा।''

पीटमैन बी.पाटर ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को व्यापक अर्थों में परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सर्वोत्तम संज्ञा उन प्रक्रियाओं एवं अंगों के समूह से सम्बन्धित की जा सकती है जो राष्ट्रों के एकीकरण को अभिव्यक्त करता हो चाहे उसका स्वरुप (तकनीकी, आर्थिक, राजनीतिक) कैसा भी हो और उसका क्षेत्र कुछ भी हो।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रों का एक ऐसा औपचारिक समूह होता है जिसका निर्माण राष्ट्रों के द्वारा विश्व शान्ति एवं कल्याण तथा स्वयं के राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए किया जाता है।

8.4. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विशेषताएं

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषाओं काविश्लेषणकरने पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती है-

(i) स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु राज्यों का एक औपचारिक संगठन- अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण प्रायः विश्व समुदाय के स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु राष्ट्रों द्वारा आपसी समझौतों एवं सन्धियों के माध्यम से किया जाता है। जिस सन्धि या समझौतो द्वारा उनकी स्थापना की जाती है उसमें उनके संगठन की विधि, कार्यप्रणाली, अधिकार एवं सीमाओं का स्पष्ट रूप में उल्लेख कर दिया जाता है। जिससे भविष्य में इन संगठनों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने की गुंजाइष न रहे।

(ii) सामान्य हितों की पूर्ति- अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना सदस्य राज्यों द्वारा अपने सामान्य हितों को दृष्टिगत रखकर किया जाता है। आजदुनियाँके देशों की कुछ सामान्य समस्याएं है जिनका समाधान सभी राष्ट्र समान रूप से करना चाहते हैं। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा, आतंकवाद, पर्यावरणीय संकट, राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध का निर्धारण आदि। इसके अलावा आज प्रत्येक राष्ट्र का यह उद्देश्य हो गया है कि वह अपना अधिक से अधिक विकास कर अपने नागरिकों के कल्याणकारी कार्यो को पूरा करे।

(iii) राष्ट्रीय राज्यों का एक अभिकरण- अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु राष्ट्रों का एक अभिकरण मात्र है। जिसकी स्थापना राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान तथा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए की जाती है। इसलिए ये सदस्य राज्यों की इच्छा पर आधारित होते है। इनकी सफलता इन्हे दीर्घायु बना सकती है तो इनका असहयोग इनके विनाष की रेखा खीच सकता है। राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ इसके सजीव उदाहरण है।

(iv) विश्व शान्ति व सहयोग का प्रेरक- अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना के मूल में विश्व शान्ति एवं सहयोग का भाव निहित होता है। यही वह प्रेरक तत्व है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के राष्ट्रों को एक सूत्र में आबद्ध करता है। विश्व शान्ति व सहयोग न सिर्फ मानव के अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है बल्कि मानव कल्याण व समृद्धि के लिए भी आवश्यक है। इसलिएदुनियाँके राष्ट्रों द्वारा आपसी सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं निर्देशित करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की जाती है।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालनकर्ता- अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थायी अभिकरणों एवं प्रक्रियाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन भी करते है। ये राष्ट्रों के ऐसे व्यवहार को नियन्त्रित करते है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में कटुता, मनमुटाव या वैमनस्य को बढ़ावा देते है। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर ये सदस्य राष्ट्रों के सहयोग से बाध्यकारी कार्यवाही भी करते हैं।

8.5 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति के निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका उद्देश्य की होती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का मूल उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करना है जो तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों को उसी प्रकार अनुशासित रखा जाय जिस प्रकार राष्ट्र अपने नागरिकों को रखते है। यही धारणा अन्तर्राष्ट्रीय शासन को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की तार्किक परिणति तक पहुंचा देता है परन्तु वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शासन बनने से कोसों दूर है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का वर्तमान स्वरूप राष्ट्रीय सम्प्रभुता और राष्ट्रों की अन्योन्याश्रितता के क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होता है।

सम्प्रभुता राज्य का सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक तत्व माना जाता है। जिसके कारण राज्य अपने आन्तरिक तथा वाह्य मामले में निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र होता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन उसकी इस स्वतन्त्रता को न्यूनाधिक रूप से सीमित करता है। यद्यपि राज्य कभी भी अपनी सम्प्रभुता को प्रतिबन्धित नहीं होने देना चाहते है। वर्तमान युग अन्योन्याश्रितता का युग है जिसमें कोई भी राज्य अन्य राज्यों से पृथक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है क्योंकि प्रत्येक राज्य के नागरिकों की भौतिक आवश्यकता एं अनन्त हो गयी है। जिसके कारण अन्तर्राज्यीय व्यापार और सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। व्यापार और वाणिज्य के प्रसार ने सम्पूर्ण विश्व को बाजार स्थल की स्थिति में ला दिया

है। आर्थिक रूप से राष्ट्रीय सीमाओं का अन्त हो गया है परिणामस्वरुप किसी एक राष्ट्र का निर्णय सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकता है। इतना ही नहीं युद्ध की आधुनिक तकनीकों ने भी राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता को बढ़ाया है। अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के विकास ने प्राकृतिक सीमाओं को सुरक्षा की गारन्टी नहीं रहने दिया है परिणाम स्वरूप महाशक्तियां अपनी सुरक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों में सैनिक अड्डे और सूचना केन्द्र बनाना आवश्यक समझने लगी हैं। बढ़ती हुई परस्पर निर्भरता मे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के उदय और विकास का मार्ग प्रशस्त किया है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की परस्पर निर्भरता राष्ट्रों के सम्बन्धों को नकारात्मक रूप में भी प्रभावित की है। बर्नर लेवी के अनुसार ''राष्ट्रों में उत्तरोत्तर बढ़ने वाली अन्योन्याश्रितता ही वह शक्ति है जो उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने के लिए प्रेरित करती है।''

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति के सम्बन्ध में आइनिस क्लाड ने दो विचारधाराओं की चर्चा की है- यथार्थवादी और आदर्षवादी। यथार्थवादियों के अनुसार वर्तमान बहु राज्यीय व्यवस्था में प्रत्येक सम्प्रभु राज्य एक आधारभूत इकाई है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी ऐसी व्यवस्था की स्थापना करने में प्रायः असमर्थ है जो राज्यों की सम्प्रभुता को समाप्त कर उनके समस्त कार्यों को अपने हाथों में ले ले। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में परम्परागत तरीकों के स्थान पर नवीन तथा श्रेयस्कर तरीकों की स्थापना करता है। राज्यों के ऐच्छिक सहयोग को सुगम बनाने तथा प्रोत्साहित करने के लिए नये अभिकरणों की स्थापना करता है, उनकी नीतियों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है तथा उनके कूटनीतिक व्यवहार के लिए समुचित रूप से अधिक सुगठित ढांचा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसा कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं है जो राज्यों के बीचनिश्चितपरिस्थितियों में विचार-विमर्ष करने तथा लिए गये निर्णयों को क्रियान्वित करने का कोई संयन्त्र विकसित किया हो। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन वर्तमान बहुराज्यीय व्यवस्था को वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप संषोधित करने, रूपान्तरित करने तथा अनुकुल बनाने के लिए एक आन्दोलन है।

जबकि दूसरी विचारधारा काल्पनिक सोच का प्रतिनिधित्व करती है। जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसी प्रक्रिया का सूत्रपात है जिसके द्वारा विश्व सरकार का स्वप्न साकार होगा। इसके समर्थकों का मानना हे कि जब सारा विश्व एक सरकार के अधीन हो जायेगा तो युद्ध नहीं होगे और यदि होगें भी तो महायुद्ध न होकर गृह युद्ध मात्र होगें। ज्योफरे सेवर का मानना है कि ''किसी भी बड़े भयानक युद्ध की सम्भावना को तब तक दूर नहीं किया जा सकता है जब तक कि सम्प्रभु आत्मनिर्णायक राज्यों की व्यवस्था को विश्व सरकार की स्थापना द्वारा स्थानान्तरित नहीं कर दिया जाता है।'' 20 दिसम्बर 1956 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को सम्बोधित करते हुए प0 जवाहर लाल नेहरु ने कहा था कि ''हम संकुचित दृष्टिकोण नहीं रख सकते, हमें अनागत की ओर देखना चाहिए। इसके लिएनिश्चितरुप से केवल एक ही मार्ग है विश्व सरकार या एक विश्व का उद्भव।'' संयुक्त राष्ट्र संघ को

विश्व सरकार के निर्माण की दिशा में उल्लेखनीय कदम कहा जा सकता है क्योंकि इसने राष्ट्रों की सम्प्रभुता को नियन्त्रित कर विश्व सरकार के निर्माण हेतु आवश्यक दषा तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यही कारण है कि आज लोग संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को 'विश्व संसद' तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को 'विश्व न्यायालय' की संज्ञा देने लगे है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति दोहरी है जिसमें संघर्ष के बीज निहित हैं। यथार्थवादी सम्प्रभुता सम्पन्न राज्यों के अस्तित्व का पक्षपोषण करते है तोआदर्शवादीएक विश्व सरकार की स्थापना कर राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को अन्तर्राष्ट्रीयता का जामा पहनाना चाहते है। चीवर औ हेवीलैण्ड ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति पर विचार करते समय यथार्थवादियों और आदर्शवादियोंके अतिवादी दृष्टिकोण से बचना चाहिए। यथार्थवादियों की राय में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन निरे दब्बू, निष्क्रिय तथा सभा-भवनों के समान होते हैं। वे कोई ऐसा कार्य नहीं करते है जो उनकी अनुपस्थिति में नहीं किये जा सकते हों। दूसरी तरफ आदर्शवादियोंका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक स्वतन्त्र प्राणी के समान होते है जिनकी अपनी इच्छा और अपना जीवन होता है। जबकि वास्तव में कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन न तो निरे दब्बू, निष्क्रिय तथा सभा भवन के समान होते हैं ओर नहीं पूर्णतया स्वतन्त्र प्राणी। इनकी स्थिति तो इन दोनों अतियों के बीच की होती है।

8.6 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का क्षेत्र

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के क्षेत्र से हमारा आषय इस बात से है कि इसके अन्तर्गत किन-किन बातों का अध्ययन किया जाता है अर्थात उसकी विषय वस्तु क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषा की भांति ही इसके अध्ययन क्षेत्र के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। लियोनार्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अन्तर्गत राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं के अध्ययन की बात कही है जिसे सदस्य राष्ट्रों द्वारा कुछ उत्तरदायित्व और सत्ता सौपी गयी है। तो पीटर कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में न केवल राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि और समझौतों, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, राजनय, अन्तर्राष्ट्रीय प्रषांसनिक संस्थाओं, मैत्री सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय अधिनिर्णय तथा प्रादेषिक संगठनों का भी अध्ययन किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के क्षेत्र का ये दोनों दृष्टिकोण यथोचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक अत्यन्त संकुचित है तो दूसरा उतना ही व्यापक। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अन्तर्गत राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ व उसके सहायक संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान में प्रादेषिक संगठनों को भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अध्ययन विषय स्वीकार कर लिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विषय क्षेत्र समय के साथ परिवर्तित एवं विस्तृत होता जा रहा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों का अध्ययन करने लगा है। अतीत से सीख लेते हुए यह वर्तमान संस्थाओं के ऐसे स्वरूप की परिकल्पना करने की चेष्टा करता है जिससे भविष्य में राष्ट्रों को युद्धों के संकट से निजात दिलाया जा सके अर्थात स्थायी विश्व शान्ति के स्वप्न को साकार किया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्बन्ध में प्रचलित यथार्थवादी औरआदर्शवादीधाराणाओं का भी अध्ययन करता है। जिससे यह ज्ञात हो सके कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और प्रक्रियाओं का यथार्थ रूप क्या है और उनसे अधिक सक्षम उद्देश्यों को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। क्विसी राइट ने लिखा है कि जैसे-जैसे राष्ट्रों के उद्देश्य एक समान होते जाते है, जैसे-जैसे सभी के उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में सहयोग संघर्ष का स्थान लेता जाता है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में विलीन होती जाती है।''

8.7 विश्व सरकार की अवधारणा

विश्व इतिहास का कोई भी युग स्थायी शान्ति अथवा स्थायी युद्ध का नहीं रहा है बल्कि युद्ध और शान्ति एक दूसरे के बाद आते रहे हैं। कभी युद्ध की भयानकता और कष्टों से बचने के लिए शान्ति की इच्छा की जाती है तो कभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध का आश्रय लिया जाता है फिर भी सभ्यता के प्रारम्भ से ही व्यक्ति की यह चिन्ता रही है कि स्थायी शान्ति व सुरक्षा की प्राप्ति कैसे हो। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ विद्वानों ने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत का सपना देखा, जिसमें राष्ट्र उसी प्रकार शान्ति एवं सहयोग पूर्वक रहें जिस प्रकार के व्यक्तिगत नागरिक राज्य नामक इकाईयों में रहते है। यही तथ्य शान्ति बनाये रखने के उत्तरदायित्व वाली अन्तर्राष्ट्रीय मशीनरी के रूप में विश्व सरकार के विकास या संगठन के लिए समर्थन प्राप्त करने का उपकरण बना। मार्गेन्थाऊ के शब्दों में ''एक शताब्दी के एक चौथाई भाग में दो विश्व युद्धों के अनुभव तथा तीसरे परमाणु शस्त्र से लड़े जाने वाले युद्ध के आसारों ने विश्व राज्य के अभूतपूर्व आवश्यकता के विचार को जन्म दिया है।''1 भावी युद्धों को रोकने में सक्षम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरूप क्या हो इसका सीधा एवं संक्षिप्त उत्तर है- एक विश्व सरकार।

विश्व सरकार ही आज की राष्ट्र राज्य व्यवस्था का आदर्शविकल्प है। इस तरह की सरकार का निर्माण करके राष्ट्रीय सम्प्रभुता को विश्व शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। विश्व सरकार की मांग के मौलिक आधार का सारांश प्रस्तुत करते हुए मार्गेन्थाऊ ने लिखा है '' ऐसा तर्क दिया गया है कि आत्म-विध्वंष से विश्व को बचाने के लिए जिस चीज की आवश्यकता है वह अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा राष्ट्रीय सम्प्रभुता का प्रयोग करने की नहीं बल्कि व्यक्तिगत राष्ट्रों की सम्प्रभुता सम्पन्नताओं को विश्व प्राधिकरण में परिवर्तित करने की है जो विभिन्न राष्ट्रों के लिए उतनी ही प्रभुसत्ता सम्पन्न होगी जितनी की राष्ट्र अपने-अपने भू-क्षेत्रों में सम्प्रभुता सम्पन्न होते है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज के अन्दर सुधार असफल हो गये है तथा उन्हें असफल होना ही था।

आवश्यकता इस बात की है कि सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों के वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समाज को व्यक्तियों के अधिराष्ट्र समुदाय में बदल दिया जाय।''2

मार्गेन्थाऊ का उपरोक्तविश्लेषणअन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों को विश्व सरकार की अवधारणा के बारे में चिन्तन करने के प्रेरित किया। परिणामस्वरुप यह धारणा ऊभर कर सामने आयी कि कम से कम प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों को एक ऐसे संगठन में शामिल कर लिया जाय जो कुछ सीमा तक विश्व सरकार के रूप में काम करें।

8.8 विश्व सरकार के संगठन के उपाय

विश्व सरकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है यह तो अविवादास्पद है। किन्तु सरकार की स्थापना किस प्रकार होगी। इस सम्बन्ध में विद्वानों का दृष्टिकोण अलग-अलग दिखायी देता है। विश्व सरकार की स्थापना के लिए जिन उपायों की चर्चा की जाती है, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. विश्व विजय द्वारा- जब कोई राज्य या शासक सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रभुत्व या आधिपत्य स्थापित कर ले तो सम्पूर्ण विश्व एक सत्ता के अधीन हो जायेगा। विश्व विजय द्वारा विश्व सरकार की स्थापना के अनेक उदाहरण इतिहास में देखने को मिलते हैं। रोमन साम्राज्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण है तो आधुनिक युग में नेपोलियन की विजय यात्रा इसका निकटस्थ रूप रही परन्तु ये सभी प्रयत्न या से नितान्त असफल रहे अथवा उनकी सफलता अल्पकालिक रही । भविष्य में ऐसे किसी प्रयत्न के सफल होने की भीआशानहीं है क्योंकि जिन राष्ट्रीयताओं को शक्ति के बल पर विजय के द्वारा उनकी इच्छा के विरूद्ध विश्व शासक की अधीनता में रहना होगा वे निरन्तर विद्रोह और जातीय पुनरूत्थानवादी पार्थक्यवाद के द्वारा उस साम्राज्य की जड़ो को खोखला करते रहेगें। मार्गेन्थाऊ के शब्दों में ''जिस विश्व राज्य का निर्माण विजय द्वारा होता है और जिसे एक विश्व लोक समाज का आधार प्राप्त नहीं है वह अपनी सीमाओं के अन्दर तभी शान्ति स्थापित रख सकता हैं। जब वह अपने लाखों सैनिको और पुलिस के सिपाहियों में जिनकी एक अनिच्छुक मानव जाति पर इसका शासन कार्यान्वित करने के लिए आवश्यकता होगी, पूर्ण अनुषासन एवं भक्ति उत्पन्न कर सके और वह अनुषासन और भक्ति बनी रहे। इस प्रकार का विश्व राज्य मिट्टी के पैरों पर आधारित सर्वाधिकारवादी दैत्य होगा जिसकी मात्र कल्पना ही चौका देती है। शक्ति एव हिंसा पर आधारित एक राज्य कभी भी विश्व शान्ति तथा सहयोग का साधन नहीं हो सकता। यह निष्चयहीन राष्ट्रों के सम्बन्धों के बीच युद्ध एंव हिंसा को बढ़ावा देगा ।

2. विश्व संघ के संगठन द्वारा- विश्व सरकार की स्थापना विश्व संघ के रूप में की जा सकती है। इसके समर्थकों का तर्क है कि भाषा, संस्कृति, इतिहास, नीतियों और निष्ठाओं की विभिन्नताओं के होते हुए भी स्विट्जरलैण्ड में संघीय सरकार की स्थापना से यह सिद्ध होता है कि विश्व समुदाय के

विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रभु राज्यों को स्वेच्छा से वृहत्तर संघ राज्य का निर्माण करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है किन्तु मार्गेन्थाऊ का मानना है कि स्विट्जरलैण्ड में संघीय राज्य की स्थापना कुछ विषिष्ट परिस्थितियों का परिणाम थी जो विश्व राज्य के सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में मार्गेन्थाऊ का मत है कि विश्व राज्य की स्थापना तभी हो सकती है जबकि पहले विश्व लोक समाज अर्थातदुनियाँके विभिन्नदेशोंके लोगों में आपसी सहयोग व सहानुभुति की भावना उत्पन्न हो। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अब तक का विकास संघवाद की इस योजना के अनुसार हुआ है कि राष्ट्रीय राज्यों के अधिकारों और पृथक अस्तित्व को मान्यता देते हुए भी ऐसी विश्व एकता की प्राप्ति की जा सके जो राज्यों के विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्तो को क्रियान्वित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था कर सके।

3. सांविधानिक परिपत्र द्वारा- सांविधानिक परिपत्र द्वारा विश्व सरकार की स्थापना की जा सकती हैं। इसके सर्मथक अमेरिकी संघ के मॉडल पर विश्व सरकार की स्थापना करने की बात करते हैं। इनका तर्क है कि 1789 में अमेरिका ने 13 राज्यों को मिलाकर संघ का निर्माण किया था। इसी तरह सम्प्रभु राष्ट्र एक संवैधानिक परिपत्र पर हस्ताक्षर कर विश्व संघ की स्थापना कर सकते हैं। जिसकी एक सामूहिक सरकार होगी। जिस पर राज्यों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करने तथा बनाये रखने का उत्तरदायित्व होगा किन्तु कुछ विद्वानो का तर्क है कि जिन परिस्थितियों में 13 राज्यो ने संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ का निर्माण किया वे केवल नाम के सम्प्रभु थे राजनीतिक वास्तविकता में नहीं। 13 उपनिवेशों(राज्यों) पर ब्रिटिष सम्प्रभुता का स्थान अमेरिका सम्प्रभुता ने ले लिया तथा उन्होने अपनी संस्कृति,इतिहास ,नैतिक तथा राजनीतिक मूल्यों को बनाये रखा फिलाडेल्फिया के कन्वेंषन ने एक संविधान, एक सम्प्रभुता तथा एक राज्य को दूसरे संविधान, सम्प्रभुता तथा राज्य में बदल दिया। दोनो का आधार वही एक समुदाय था जहां पहले 13 अलग-अलग राज्य थे वहां कन्वेषन ने एक राज्य का निर्माण नहीं किया। इसलिए अमेरिकी मॉडल का विश्व संघ स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।

4.विश्व समुदाय के विकास द्वारा- इस विचारधारा के समर्थको मानना हैं कि विश्व के लोगो में सामुदायिक भावना का विकास किया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि विभिन्न देशों के लोगो में सक्रिय तथा विश्व स्तरीय मित्रता तथा सहयोग की भावना को प्रोत्साहित किया जाय, जिससे उन लोगों में समुदाय की भावना उत्पन्न हो। विश्व का विश्व समुदाय में हस्तान्तरण ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक जीवन का आधार बनेगा। रेनोल्ड नेबूर ने ठीक ही कहा है कि ''विश्व समुदाय विश्व सरकार के लिए आवश्यक है यह विश्व समुदाय वैधानिक तथा संवैधानिक साधनो द्वारा नहीं बनाया जा सकता है बल्कि इसके विपरीत विश्व के लोगों के मध्य मित्रता, सहयोग तथा मूल एकता की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए अच्छे हितकारी कदम उठाये जाने से विकसित होगा।

समुदाय को बल पूर्वक मूल व्यवस्था में शामिल नहीं किया जा सकता, मूल व्यवस्था निष्चय ही स्वाभाविक शक्ति से आती है।

विश्व सरकार के समर्थको द्वारा उर्पयुक्त चार उपायों की चर्चा की गयी है जिसमें सबसे उपयुक्त यही प्रतीत होता है कि विश्व समुदाय की स्थापना करके ही विश्व सरकार के सपनो को साकार किया जा सकता है क्योंकि कोई राज्य (सरकार) तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसके पीछे कोई न कोई ऐसा समाज न हो जो उसे स्वेच्छा से सर्मथन देने के योग्य हो तथा उसे समर्थन दे।

अभ्यास प्रश्न 1

2. बन्द अर्थव्यवस्था की नीति का अनुयायी था-

(1)स्विटजरलैण्ड (2)संयुक्त राज्य अमेरिका

(3)चीन (4)इनमें से कोई नहीं

.....

.....

3. अमेरिका में संघ का निर्माण हुआ -

(1)1689 ई0 में (2)1789 ई0 में

(3)1795 ई0 में (4) इसमें से कोई नहीं

4. वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीय का युग कहा जाता हैं। सत्य है/असत्य है

8.10 विश्व सरकार की आवश्यकता एवं उपयोगिता

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में किसी ऐसे संगठन की आवश्यकता प्रबल रही है जो राष्ट्रों को नियत्रिंत कर युद्धों को रोके तथा राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करें। विश्व सरकार की आवश्यकता एवं उपयोगिता का उल्लेख निम्न रूपों किया जा सकता है-

1 विश्व शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना- समय-समय पर घटित घटनाए विश्व समुदाय में अराजकता एवं भय का वातावरण निर्मित कर देती हैं। इसलिए मानव समुदाय इससे निजात पाने के लिए सदैव से प्रत्यन्तषील रहा है। शीत युद्ध के दौरान तो कई बार यह लगने लगा था कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की कटुता कभी भी भयंकर युद्ध का रूप धारण कर सकती है। क्यूबा संकट के समय तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अबदुनियाँको युद्ध की विभीषिका से बचाया नहीं जा सकता

है। यह निर्विवाद सत्य है कि वर्तमान परमाणु शस्त्रो के युग में होने वाला युद्ध सम्पूर्ण मानवता को संकट में डाल देगा। इसलिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो आवश्यकता पड़ने पर शान्ति भंग को रोकने के लिए एक विश्व परकीय एजेंसी के रूप में कार्य करे। यह सर्वोच्च सत्ता धारी शक्ति विश्व सरकार ही हो सकती है। आई.एल.क्लाड ने लिखा है ''सामान्य रूप से विश्व सरकार की अवधारणा ऐसी सत्ता धारी शक्तिशाली केन्द्रीय संस्थाओ की स्थापना करना है जो राज्यो के बीच सम्बन्धो में मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने के लक्ष्य के लिए प्रबन्ध कर सके।''

2. राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विकल्प- राष्ट्रवाद पर आधारित तथा शक्ति राजनीति द्वारा संचालित वर्तमान राज्य व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए ऐसे सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की आवष्कता महसूस की जाने लगी जो राज्यो पर प्रभावशाली नियन्त्रण रख सके। इसके लिए विद्वानों ने महसूस किया कि सार्वभौम राष्ट्रीय राज व्यवस्था के विकल्प के रूप में विश्व सरकार को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। यह एक ऐसा विचार है जिसके माध्यम से राष्ट्रीय सम्प्रभुता को विश्व सत्ता में हस्तान्तरित किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था में राज्यों की सम्प्रभुता विश्व सरकार में निहित होगी। जिससे राष्ट्रों के मध्य अनावष्यक तनाव एवं झगड़ो को दूर किया जा सकेगा। यदि विश्व सरकार स्थापित हुई तो यह विश्व शान्ति के मार्ग मील का पत्थर सिद्ध होगी।

3. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति प्रबन्धन- जिस प्रकार किसी राज्य में शक्ति के विभिन्न केन्द्रों (सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक) को सीमित एवं मर्यादित रखने के लिए राष्ट्रीय सरकार का होना आवश्यक होता है। राष्ट्रीय सरकार के अभाव में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना मुश्किल होता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के राष्ट्रों के बीच शक्ति सम्बन्धो के प्रभावकारी प्रबन्धन के लिए विश्व सरकार को आवश्यक माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में फैली अराजकता को दूर करने का इससे बेहतर कोई विकल्प नहीं हो सकता है। विश्व सरकार राष्ट्रों की शक्ति को सीमित कर शक्ति संघर्ष को दूर करेगी। जिससे विश्व समुदाय में अमन-चैन स्थापित होगा।

4. विश्व एकता एवं प्रगति में सहायक- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष का सबसे बड़ा कारण राष्ट्रों की भिन्नताएं, विरोधी स्वार्थ तथा असमान स्थितिया है। विश्व सरकार की स्थापना के पश्चात् राष्ट्रों का आपसी सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण एवं मधुर हो जायेगा, जिससे युद्धों में कमी आयेगी । युद्ध न केवल विनाष करते है बल्कि उन तत्वो एवं परिस्थियों को भी नष्ट कर देते हैं, जिसमें मानव सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति होती है। विश्व सरकार शान्ति की स्थापना कर युद्ध और सैनिक तैयारियों पर होने वाले खर्च को भी सीमित कर देगी। जिसका उपयोग कल्याणकारी एवं रचनात्मक कार्यो में किया जा सकेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व सरकार की स्थापना के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्धो की समस्याएं समाप्त हो जायेगी। परिणामस्वरूप राष्ट्र तनावमुक्त होकर एक-दूसरे के विकास में सहयोग करेगें जिससे विश्व के एकता एवं प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा है।

5. सामूहिक सुरक्षा की स्थापना- विश्व सरकार के बहुत के समर्थक इस बात की वकालत करते हैं कि विश्व सरकार स्वाभाविक रूप से सामूहिक सुरक्षा का अगला कदम है। उनके अनुसार सामूहिक सुरक्षा की धारणा शक्ति सन्तुलन व्यवस्था के तर्क संगत विस्तार से उत्पन्न हुई-एक समूह की कार्यवाही से सभी राष्ट्र द्वारा शान्ति प्राप्त करने तथा बनाये रखने की धारणा मेंविश्वासहै। सामूहिक सुरक्षा का मूल मन्तव्य है 'एक सबके लिए और सब एक लिए'। विश्व सरकार एक ऐसी शक्ति सम्पन्न सरकार होगी जिसके पास सभी राष्ट्रों के व्यवहार को नियन्त्रित व मर्यादित करने की विपुल शक्ति होगी। यह एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करेगी जिसमें सम्पूर्ण विश्व सर्वपक्षीय निरीक्षण, निर्देषन तथा नियन्त्रण के अधीन होगा।विश्व सरकार सभी राष्ट्रों के सुरक्षा की गारन्टी होगी ओर यदि कोई राष्ट्र किसी की सुरक्षा को खतरा उतपन्न करता है तो यह आक्रमणकारी राष्ट्र से उस राष्ट्र की सुरक्षा भीनिश्चितकरेगी।

6. संघात्मक व्यवस्था का प्राकृतिक रूप- राष्ट्रों के मध्य परस्पर निर्भरता समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अविवादास्पद तथ्य है। ऐसे में विश्व सरकार एक प्राकृतिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यह माना जाता है कि जिस प्रकार संघात्मक व्यवस्था में इकाईयों को एकजुट कर एक केन्द्रीय सत्ता के नेतृत्व में स्थानीयता को दृष्टिगत रखकर कार्य किया जाता है उसी प्रकार विश्व सरकार भी विश्व संघ की दिशा में एक दूरगामी कदम है। विश्व सरकार का निर्माण के द्वारा इकाईयों के ऊपर एक सर्वोच्च अभिकरण की स्थापना की जायेगी और सम्प्रभु राष्ट्रों की शक्ति को कम कर उन्हें विश्व संघ व्यवस्था के असार्वभौमिक सदस्य का स्तर प्रदान किया जायेगा। इतना ही नहींनिःशस्त्रीकरण सहित विभिन्न उपायों का प्रयोग कर इकाईयों की शक्ति को सीमित कर दिया जायेगा ताकि वे केन्द्रीय सत्ता को चुनौती न दे सके।

7. अन्तर्राष्ट्रीय जीवन दर्शन के रुप में- अनेक विद्वान इस बात का समर्थन करते है कि हमारे समय के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो परिवर्तन आये है वे विश्व संघ के विकास तथा संगठन के पक्ष में हैं। डॉ.आशीर्वादम् के शब्दों में ''हाल के वर्षो की वैज्ञानिक खोजे, यात्रा की सुविधाएँ तथा विश्व के लोगों के बीच अधिक मेल-मिलाप बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वर्तमान समस्याओं का विश्व स्वरुप सभी मिलकरदेशभक्ति तथा प्रभुसत्ता सम्पन्नता के कठोर विचारों को समाप्त करने की विश्व प्रवृत्ति के सिकुड़ने का कारण बन रही है तथा विश्व संघ के किसी न किसी रुप की ओर इंगित कर रही है।''

8.11 विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग में आने वाली कठिनाईयां

निसन्देह विश्व सरकार एक आदर्षात्मक अवधारणा है जो सम्पूर्ण संसार को एक समुदाय में संगठित कर शान्ति स्थापित करना चाहती है लेकिन व्यावहारिक धरातल पर इसकी परिणति यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्यहै। वर्तमान विश्व की नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियां इसकी स्थापना के अनुकुल नहीं है। विश्व सरकार के स्थापना के मार्ग में बहुत सी कठिनाईया आयेगी। मार्गेन्थाऊ ने लिखा है कि विश्व सरकार की स्थापना निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करती हैः

1.क्या विश्व समुदाय ऐसी सरकार की स्थापना करना चाहता है या इसकी स्थापना के रास्ते में कम से कम ऐसी कठिनाईयां पैदा नहीं करेगा जिन पर काबू न पाया जा सके ?

2.क्या वे लोग विश्व सरकार को खड़ा रखने के इच्छुक और इसके योग्य है ?

3.क्या वे लोग ऐसा कार्य करने से रूक जायेगें जिन्हें विश्व सरकार अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करने से मना करेगी।

इन तीनों प्रश्नों का उत्तर प्रायः नकारात्मक ही मिलेगा क्योंकि राष्ट्रवाद तथा प्रभुसत्ता जैसी दृढ़ शक्तियों की उपस्थिति में हम विश्व समुदाय से यह अपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि वे वर्तमान राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था को त्यागकर खुले मन से विश्व सरकार को स्वीकार करेगे। इसके अतिरिक्त यह भी माना जाता है कि इस परिवर्तन के साथ नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक मूल्यों में भी क्रान्ति आ जायेगी। विश्व सरकार सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यों को अपदस्थ कर उन्हें अपने में समाहित कर लेगी। यह तो बहुत बड़ी तथा आशावादी अपेक्षा है। इसलिए विश्व सरकार कीआशाअत्यन्त धुधली प्रतीत होती है। विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग में प्रमुख रुप से निम्नलिखित कठिनाईयां प्रतीत होती है-

1. प्रतिवद्धता की कमी- विश्व सरकार के पक्ष में अभी भी लोगो में न्यूनतम आवश्यक मानसिक स्तर देखने को नहीं मिलता है और निकट भविष्य में इसकी उम्मीद भी कम ही दिखायी देती है। क्योंकि विश्व सरकार से लोगों को अपेक्षाए तो हैं लेकिन यहविश्वासजब तक कायम नहीं हो जाता कि विश्व सरकार उन पर खरा उतरेगी तब तक विश्व समुदाय इसकी स्थापना के लिए आगे नहीं आयेगा।

2. व्यावहारिक समस्याएं- विश्व सरकार की स्थापना में व्यावहारिक समस्याओं की भी कमी नहीं है। अनेक व्यावहारिक समस्याएं है जैसे वोटों का निर्धारण किस आधार पर किया जाय? निर्णय लेने की शक्ति का निर्धारण कैसे हो ? क्या विश्व सरकार का प्रभुत्व भी शक्तिशाली लोगों की इच्छाओं के अनुरुप ही होगा जैसा प्रायः राष्ट्रीय राज्यों में होता है ? लोकतन्त्र की यह प्रबल मान्यता है कि सबको समान समझा जाय अर्थात सबको समान शक्ति मिलनी चाहिए। यह विश्व स्तर पर मान्य नहीं हो सकता है। अधिक विकसित, प्रगतिशील तथा शक्तिशाली देश जनसंख्या के आधार पर वोटों के बंटवारे को स्वीकार नहीं करेगें। उन्हे यह कदापि स्वीकार नहीं होगा कि भारत को अमेरिका से दुगनी वोटों की शक्ति प्राप्त हो या इण्डोनेशिया ब्रिटेन तथा फ्रांस से दुगनी वोट शक्ति रखे । इस तरह प्रत्येक

राज्य के नागरिक को एक वोट का फार्मूला बेतुका सिद्ध होगा। इस प्रकार ये देखा जा सकता है कि विश्व सरकार के निर्माण की दिशा में इतनी अधिक व्यावहारिक समस्याएं हैं जिनका निराकरण अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है।

3. शक्ति को हस्तान्तरित करने की समस्या- राष्ट्रीय शक्ति के अनेक स्रोत होते हैं। राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्पूर्ण एवं स्थायी तत्व भौगोलिक स्थिति है। इसलिए किसी भी राज्य की सषस्त्र सेना की यूनिट तथा शस्त्र का निर्धारण भी भौगोलिक स्थिति के आधार पर ही किया जाता है। इस प्रकार जो राज्य विश्व की संघीय ढांचे में आयेगें वे निष्चय ही अपनी भौगोलिक स्थिति के आधार पर शक्ति प्राप्त कर आयेंगें चाहे वास्तविक हो या सम्भावित। ऐसे राज्य प्रत्यक्ष रूप से भले ही विश्व संघ के अधीन हों परन्तु वे इस व्यवस्था का उल्लघन भी कर सकते हैं। एक विश्व के अन्दर प्रत्येक इकाई के पास न केवल कुछ शक्ति होगी बल्कि एक निश्चित भौगोलिक आधार भी होगा जिसके आधार पर वह क्रान्तिकारी कार्यवाही कर सकता है। इसलिए विश्व सरकार की स्थापना में एक व्यावहारिक समस्या यह भी है कि राष्ट्रों की शक्ति को किस प्रकार केन्द्रिय सत्ता को हस्तान्तरित किया जाय जिससे उन पर नियत्रण रखा जा सके।

4. राज्य आत्म-सुरक्षा के अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं- विश्व संघ (सरकार) की स्थापना में एक बडी़ कठिनाई यह भी हैं कि राज्य अपने आत्म-रक्षा के अधिकार को नहीं छोड़ना चाहते हैं। यह तभी सम्भव है जबकि विश्व के शक्ति सम्पन्न देशों को यह भरोसा हो जाय कि विश्व संघ उनकी सुरक्षा कर सकता है अन्यथा की स्थिति में कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र अपने साधनो का परित्याग नहीं करेगा।

उर्पयुक्त कठिनाईयों तथा अन्य बातों का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि अभी विश्व सरकार की स्थापना के लिए अनुकुल पस्थितिया विद्यमान नहीं हैं। ऐसे में यदि विश्व सरकार स्थापित भी हो जाय तो यह आवश्यक नहीं है कि शान्ति बनाए रखने में सफल होगी। राष्ट्रीय राज्यों में सरकारों के होने के बावजूद लोगो का असन्तोष कभी -कभी गृह युद्व का रूप धारण कर लेता है ऐसे में विश्व सरकार की उपस्थिति भी युद्वो को रोकने में पूर्णतः सफल होगी सन्देहास्पद है।

8.12 विश्व सरकार की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ एक उल्लेखनीय कदम

प्राचीन काल से ही विश्व शान्ति की स्थापना के लिए विश्व व्यवस्था पर विचार किया जाता रहा हैं। जिसकी झलक बसुधैव कुटुम्बकम् और चक्रवर्ती सम्राट की भारतीय धारणाओ में दिखायी देती हैं। तो यूरोपियन विचारो में चौदही शताब्दी में पीयरे डु बायज तथा दांते एलघीयरी सोलहीं शताब्दी में टॉमस मूरे आधुनिक युग के प्रारम्भिक काल में इरासमस, हेनरी अष्टम, डक द सली, एमरिक, क्रुसे, हयूगो ग्रोषियस, विलियम पेंन, अबे दी सेंट पीयरे, रूसो, कांन्ट और बेंथम आदि की योजनाओं ने

विचारकों और राजनेताओं का ध्यान इस तरफ आकृष्ट किया था परन्तु ये योजनाएं व्यावहारिक रूप से प्रभावहीन रहीं क्योंकि कि उस समय तक एक विश्व समाज के विकास का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्रों के समाज की उस बढ़ती हुई अन्योन्याश्रितता या पारस्परिक निर्भरता की अभिव्यक्ति है जो धीरे -धीरे उसे एक विश्वलोक समाज की दिशा में अग्रसर कर रहीं हैं। सामूहिक सुरक्षा और शान्ति कायम रखने वाले संस्था के रुप में किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि वह दुनियाँ की शक्ति के कितनें अंश का प्रतिनिधित्व करती है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लगभग सभी महाशक्तियॉ संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य बनी जिससे यह तो स्पष्ट हो गया कि यह संस्था दुनियाँ के देशों को शान्ति की दिशा में दूर तक ले जाने में सफल होगी। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के असफलताओं एवं दुर्बलताओं की भी एक लम्बी सूची है फिर भी यह संस्था जीवित रहनें तथा समयानुकुल परिवर्तन की क्षमता का मिषाल बनी है। कहा जाता है कि 1945 में महाशक्तियों के सहयोग से स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ के संघर्ष में उसी प्रकार एक खण्डहर बन गया जिस प्रकार ब्रिटेन और रूस के संघर्ष में पवित्र मैत्री और यूरोपीय सहयोग या ब्रिटेन और फ्रांस के संघर्ष में राष्ट्र संघ परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ समाप्त होने की वजाय नित नया रुप धारण करता जा रहा है यद्यपि शीत युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य प्रणाली शिथिल सी हो गयी थी क्योकि प्रायः सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर अमेरिका व सोवियत संघ के टकराव के कारण निर्णय लेने में असफल था परन्तु धीरे - धीरे यह शीत युद्व के एक मंच से बदलकर विकासशील, साम्यवादी और विकसित देशों के त्रिपक्षीय पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन को बनाये रखने का एक यन्त्र बन गया है।

कुर्त वाल्डहाइम के अनुसार ''संयुक्त राष्ट्र संघ धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व का एक लघु रुप बन गया है। वह एक अधिकाधिक अन्योंन्याश्रित पर परस्पर निर्भर बनते जा रहें हैं विश्व में समान समस्याओं की विषाल संख्या का समान समाधान खोजनें का एक विशेष अवसर प्रदान करता हैं।'' यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ युद्धों को रोकने का सन्तोषजनक साधन सिद्ध नहीं हुआ हैं परन्तु कहा जाता है कि जिस प्रकार 1848 ई0 से पहले स्विट्जरलैण्ड का राज्य मण्डल या अर्द्ध संघ एक राज्य नहीं था वरन् एक प्रकार का अधिक सम्पन्न राष्ट्र या संयुक्त राष्ट्र संघ था और कालान्तर में वह एक संघीय राज्य का रुप धारण कर लिया उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ भी भावी विश्व संघ का पूर्वाधिकारी सिद्ध हो सकता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की जो प्रक्रिया 1814 ई0 के वियना सम्मेलन से शुरू हुई थी वह धीरे-धीरे संयुक्त राष्ट्र संघ के रुप में विश्व समाज को एक विश्व राज्य की दिशा में आगे ले जा रही है।

8.13 विश्व सरकार के स्थापना की सम्भावना

उपरोक्त विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त यहनिष्कर्षनिकाला जा सकता है कि न केवल विश्व सरकार की स्थापना सम्भव है वरन् हम उत्तरोतर दिशा में बढ़ रहें हैं। यद्यपि विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग में जो संवैधानिक या गैर-संवैधानिक व्यावहारिक कठिनाईयां बतायी जा रही हैं वे निःसन्देह गम्भीर एवं वास्तविक हैं। इस प्रकार की समस्याएं दुनियां के अनेक संघीय राज्यों यथा- स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना के समय भी आयी थी जो धीरें-धीरे समय के साथ समाप्त होती गयी। विश्व राज्य की सबसें महती आवश्यकता विश्व लोक समाज को माना जाता है जिस दिशा मे विश्व तेजी के साथ बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है। बीसवीं शताब्दी में अनेक ऐसे विकास हुए हैं या हो रहें है जो कालान्तर में विश्व सरकार की सम्भावना को बढ़ा रहें हैं। इतिहास इस बात का गवाह है कि जैसे -जैसे युद्ध के उपकरणों की विनाषलीला भयंकर होती गयी वैसे-वैसे राष्ट्र अपनी समप्रभुता के आंषिक परित्याग की कीमत पर भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों की रचना करने को तैयार होते गये। नेपोलियन के युद्धों के बाद यूरोपियन सहयोग की व्यवस्था, प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इस बात का प्रमाण है। परमाणु और हाइड्रोजन बमों की संहारक क्षमता तथा रासायनिक हथियारों के खतरे ने इस बात को कल्पना क्षेत्र से सम्भावना क्षेत्र में ला दिया हैं कि यदि युद्ध हुआ तो सम्पूर्ण मानवता संकट में पड़ जायेगी। ऐसी स्थिति से बचने के लिए देर-सवेर राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता के मोह को छोड़कर एक विश्व सरकार की उच्चतर सत्ता को स्वीकार करने के लिये तैयार हो जायेंगें।

मानव अपने जीवन की कीमत पर प्रायः कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं कर सकता। अतः यदि विश्व समुदाय के मानव को यह आभास हो जाय कि राष्ट्रों की सम्प्रभुता व प्रतिद्वन्द्विता उसके जीवन को काल के गाल में धकेल सकती हैं तो ऐसे विनाष से बचने के लिए वह विश्व सरकार की अधीनता स्वीकारने में तनिक भी देर नहीं करेगा। जवाहर लाल नेहरु ने एक बार कहा था ‘‘विश्व सरकार को अवश्यबनना चाहिए और यह बनेगी भी क्योंकि इसके अतिरिक्त हमारे विश्व की बुराईयों का कोई हल नहीं है।’’

अतः सारी बाधाओं और कठिनाईयों के बावजूद एक विश्व राज्य की स्थापना अवष्यम्भावी है षर्त सिर्फ यह है कि ऐसा होने से पहले कहीं आणविक युद्ध की ज्वालाएं वर्तमान मानव सभ्यता को विनष्ट न कर दें। विश्व सरकार की स्थापना ऐसे महाप्रलय से बचने का एक कारगर उपाय सिद्ध हो सकती है। अरविंद घोष के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ‘‘वर्तमान समय की विश्व की परिस्थितियों में उनकी सर्वाधिक उत्साह नाषक विशेषताओं और खतरनाक सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए भी ऐसा कुछ नहीं है जो हमें इस विचार का परित्याग करने को मजबूर कर सके। हमारी आवश्यकता ओं के कारण किसी न किसी प्रकार की विश्व यूनियन की स्थापना अवष्यम्भावी है। अन्तिम परिणाम अवश्यही एक विश्व राज्य की स्थापना होगा या विश्व का जो सबसे वांछनीय रुप हो सकता है वह है स्वतन्त्र राष्ट्रीयताओं का ऐसा संघ जिसमें एक राष्ट्रीयता के द्वार दूसरी राष्ट्रीयता का वलात

असमानता और अधीनता पर आधारित सारा आधिपत्य समाप्त हो जायेगा यद्यपि इस संघ में कुछ राष्ट्रीयताओं को स्वभाविक रुप से औरो से अधिक प्रभाव प्राप्त हो सकता है परन्तु सबका विधि सम्मत स्तर समान होगा।''

अभ्यास प्रश्न 2

1.विश्व सरकार की अवधारणा अभी भी व्यावहारिक धरातल पर अवतरित नहीं हुई हैं। सत्य है/असत्य है

2.शीत युद्ध को निलम्बित मृत्यु दण्ड की सजा कहा था-

(1) महात्मा गाँधी ने (2) जवाहरलाल नेहरु ने

(3) मार्गेन्थाऊ ने (4) इनमें से कोई नहीं

3.संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थपना किस वर्ष हुई थी?

(1) 1919 में (2) 1945 में

(3) 1950 में (4) इनमें से कोई नहीं

8.15 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में स्थायी युद्ध या स्थायी शांति की स्थिति कभी नहीं रही है इसलिए कभी युद्धों से बचने का प्रयास किया जाता रहा तो कभी स्वार्थगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रों ने युद्ध का सहारा लेने में भी कोई संकोच नहीं किया। विश्व शान्ति सदैव से विद्वानों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के चिन्ता का कारण बनी हुई है। समय-समय पर होने वाले भयकंर युद्धों ने इस चिन्ता को और अधिक बढ़ा दिया जिसके कारण यह महसूस किया जाने लगा कि यदि राष्ट्रों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति दिलाना है तो इसका कोई स्थायी प्रबन्ध किया जाना चाहिए। यह वह तथ्य है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने की मशीनरी के रुप विश्व सरकार की अवधारणा को जन्म दिया। भविष्य में युद्धों को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का स्वरुप क्या होगा इसका सीधा उत्तर-एक विश्व सरकार की स्थापना माना गया किन्तु इसकी स्थापना कैसे होगी या इसका स्वरुप क्या होगा इस पर विद्धानों में मतभेद आज भी बना हुआ है। विश्व सरकार की स्थापना के लिए प्रायः जिन उपायों की चर्चा की जाती है उनमें विश्व विजय द्वारा विश्व संघ के संगठन द्वारा, संविधानिक परिपत्र द्वारा और विश्व समुदाय के विकास द्वारा प्रमुख हैं। किन्तु इनमें विश्व समुदाय के विकास द्वारा ही विश्व सरकार के सपनों को साकार किया जा सकता है। विश्व सरकार विश्व को शान्ति एवं सुरक्षा की चिन्ता से मुक्त कर देगी।

विश्व सरकार के स्थापना के मार्ग में कई व्यावहारिक व जटिल कठिनाईयां हैं। विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई विश्व समाज की अनुपस्थिति है। लोगों में विश्व सरकार को लेकर यह भ्रम बना हुआ है कि यह विश्व शान्ति की स्थापना कर भी पायेगी या नहीं। इसके अलावा विश्व सरकार के गठन के लिए वोटों का निर्धारण कैसे हो, राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व किस प्रकार दिया जाय, निर्णय लेने की शक्ति का निर्धारण कैसे हो, क्या विश्व सरकार का प्रभुत्व भी राष्ट्रीय राज्यों की भांति शक्तिशाली लोगों के हाथ में ही होगा, क्या विकसित और विकासशील देशों के लोग जनसंख्या आधारित प्रतिनिधित्व को स्वीकार करेगें आदि। जब तक इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलेगा तब तक विश्व सकार का सपना आकाष कुसुम के समान ही होगा। वर्तमान में कुछ लोगों का मानना है कि विश्व स्तर पर परमाणु बमों, हाइड्रोजन बमों व रासायनिक हथियारों के भय ने विश्व सरकार के पक्ष में वातावरण निर्मित करने में सहयोग किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपने कार्यो से दुनियाँ के देशों में निकटता व सहयोग का भाव उत्पन्न कर रहा है। जैसा कि माना जाता हे कि विश्व सरकार के निर्माण के लिए विश्व लोक समाज का होना सबसे आवश्यक है क्योंकि कोई भी सरकार तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसके आदेशों का पालन उस समाज के लोग स्वेच्छा से न करें। इस प्रकार विश्व समुदाय की परिस्थितियां विश्व सरकार के निर्माण की दृष्टि से सकारात्मक दिखायी दे रही है। अतःआशा की जाती है कि शीघ्र ही विश्व सरकार का सपना जीवन्त होगा।

8.16 शब्दावली

संगठन- किसीनिश्चितउद्देश्य की प्राप्ति के लिए निर्मित मानव समूह

सामूहिक- समूह को ध्यान में रखकर

सरकार- राज्य का वह आवश्यक तत्व जो राज्य को मूर्तता प्रदान करता है

सभ्यता- समाज द्वारा की गयी अनवरत उन्नति

अन्तर्राष्ट्रीय- विश्व स्तर पर

सम्प्रभुता- सर्वोच्च शक्ति

साम्राज्य- एक राज्य की सीमा का विस्तार

सर्वाधिकारवादी- राज्य की एकात्मक सत्ता

सांस्कृतिक- मानव समूह की अच्छी आदते

संघ- एक केन्द्रीय समूह

सांविधानिक- संविधान के अनुरुप

परिपत्र- शासकीय अधिसूचना

8.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- विश्व शान्ति एंव सुरक्षा की स्थापना 2- चीन 3- 1789 ई0 मे 4- सत्य है।

अभ्यास 2

1- सत्य है। 2- जवाहर लाल नेहरू ने 3- 1945ई में

8.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.पी.डी. कौशिक,अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की रूपरेखा,मिश्रा ट्रेडिग कार्पोरसन , वाराणसी,2002।

2.डॉ. एस. सी. सिघल, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल,आगरा ,2013।

3.डॉ.प्रभुदत्तशर्मा,अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (सिद्धान्त एवं व्यवहार) कालेज बुक डिपो , जयपुर, 2001।

4.यू. आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (सिद्धान्त और व्यवहार) न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी जालन्धर 2000।

5.डॉ. बी. एल फाडिया, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा,2016

6.डॉ. एम .पी. राय, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन,कालेज बुक डिपो जयपुर,1998

8.19 निबन्धात्मक प्रश्न

1.अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में शक्ति के साधन के रूप में विश्व सरकार का आलोचनात्मक विश्लेषण करें।

2.विश्व सरकार की अवधारणा पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।

3.विश्व सरकार की आवश्यकता एवं महत्व पर प्रकाश डालिए।

4.विश्व सरकार के स्थापना के मार्ग में आने वाली कठिनाईयाँ पर प्रकाश डालते हुए उनका निवारण भी प्रस्तुत करें।

5.विश्व सरकार के पक्ष तथा विपक्ष में तर्कों का विवेचन करें।

ईकाई-9 : गुटनिरपेक्षता – अर्थ, उद्देश्य, विशेषताएं, प्रासंगिकता

ईकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 गुटनिरपेक्षता की अवधारणा

9.4 भारतीय गुट निरेपक्षता की अवधारणा

9.5 गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने का कारण

9.6 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण

9.7 अभी तक संपन्न गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मलेन

9.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता

9.9 भारत की भूमिका

9.10 गुटनिरपेक्ष नीति

9.11 सारांश

9.12 शब्दावली

9.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.14 संदर्भ ग्रन्थ

9.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.16 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

गुट निरपेक्ष आन्दोलन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है तथा यह भारतीय विदेश निति की एक विशिष्ट विशेषता रही है। भारतीय विदेशनीति के एक आधारभूत विशेषता के रूप में गुट निरपेक्षता का निहितार्थ विभिन्न शक्ति गुटो से समान एवं सैद्धान्तिक दुरी बनाये रखना, सभी गुटो से समान मित्रवत सम्बन्ध बनाये रखना, किसी भी सैन्य गठजोड़ में शामिल न होना तथा एक स्वतंत्र विदेश नीति के मार्ग पर चलना, से है। ऐसा माना जाता है कि गुटनिरपेक्षता की नति मुख्यतः शीतयुद्ध का राजनीति परिणाम थी जो द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने के तत्काल बाद शुरू हो गया था। इस नीति के विकास में भारत का योगदान प्रमुख था तथा यह अब भी इस आंदोलन के अग्रणी सदस्यों मे से एक हैं। जिस समय गुटनिरपेक्षता की नीति पर बल दिया जा रहा था, उस समय पूरा विश्व शीत युद्ध के दौर से गुजर रहा था। पूरा विश्व दो ध्रुवो-सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत यूनियन में बँटा हुआ था। साम्यवाद के बढ़ते प्रसार को रोकने के लिए जहां लगभग सम्पूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया तथा पश्चिमी युरोप अमेरिका के नेतृत्व वाले गठबंधन से जुड़ गया था, वही दूसरे तरफ पूर्वी युरोप तथा चीन, सोवियत यूनियन के साथ जुड़ गये थे। उसी समय भारत समेत अनेक तीसरी दुनियाँ के देश, उनके यहाँ राष्ट्र निर्माण और विकास का प्रतिरूप किस प्रकार हो कि समस्या से जुझ रहे थे। इस परिस्थिति में किसी एक गुट के साथ गठबन्धन का अर्थ, दूसरे गुट से मिलने वाली सहायता से वंचित होना था। अतः इन नवोदित राष्टों ने दोनों गुटों से समान दूरी बनाकर, दोनों गुटो से सहायता प्राप्त कर अपने राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया को बढ़ाने का प्रयास किया। स्वाभाविक रूप से इस सन्दर्भ में गुटनिरेपेक्ष की नीति का अनुसरण करना सर्वोतम मार्ग था।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत हम मुख्यतः गुटनिरपेक्षता की अवधारणा की व्याख्या, इसका अर्थ तथा उन कारणों की विवेचना करेंगे जिनका गुट निरपेक्ष आन्दोलन के उद्भव मे मुख्य भूमिका थी । वर्तमान भूमण्डलीकरण के दौर में, विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति कहाँ तक प्रासंगिक है, यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण प्रश्न है । इस इकाई को पढ़ने एवं समझने के पश्चात् हम:-

- गुटनिरपेक्षता की विशेषताएँ अवधारणाओं से परिचीत हो सकेंगे ।
- भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता का अर्थ, विशेषताएँ और महत्व समझ सकेंगे।
- गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का विभिन्न कालो के दौरान विकास और कार्यान्वयन को जान सकेंगे।
- उत्तर शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्षता की नीति कहाँ तक प्रासगिक है, इसका विश्लेषण कर सकेगे।

9.3 गुटनिरपेक्षता की अवधारणा

जैसा कि हमने प्रस्तावना में देखा कि गुटनिरपेक्षता का अपना एक विशिष्ट अर्थ है। अनेको पश्चिमी विद्वानो ने गुट निरपेक्ष के शाबदिक अर्थ को संज्ञान में लेते हुए इसे नाकारात्मक अवधारणा के रूप में व्याख्यायित किया है। उन्होने गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य, तटस्थता या तटस्थतावाद के रूप में लिया है। अतः गुटनिरपेक्षता के विशेषताओं और उद्देश्यों का विवेचन करने से पूर्व, इसकी, इससे मिलती जुलती कुछ शब्दालियों से तुलना करना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्यतया गुटनिरपेक्षता को तटस्थता,तटस्थीकरण, अलगाववाद एकलवाद, गैर प्रतिबद्धता असम्बद्धता जैसे शब्दों से तुलना की जाती है। तटस्थता शब्द का तात्पर्य युद्ध में सहभागी न होने से है। यह एक कानुनी अवधारणा है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धीत है तथा केवल युद्ध के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जो कि केवल युद्ध की स्थिति में अपनाया जा सकता है । अतः तटस्थता पद केवल प्रत्यक्ष संघर्ष के स्थिति में प्रासंगिक है। एक तटस्थ देश वह देश होता है जो कि तटस्थता के नीति का पालन करता है। तटस्थीकरण किसी देश विशेष के स्थायी तटस्थ अवस्था को प्रदर्शित करता है, जो कि किसी भी अवस्था में तटस्था की नीति को छोड़ नहीं सकता। उदाहरणस्वरूप स्वीटजरलैण्ड ऐसा देश है जो कि स्थायी रूप से तटस्थ है। अलगाववाद से तात्पर्य, दुसरे देशों के समस्याओं से पूर्ण रूप से अलग होने की अवस्था से है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक अमेरिका पूर्ण अलगाववाद की नीति के पालन के लिए जाना जाता था। गैर प्रतिबद्धता से तात्पर्य त्रीकोणीय या बहुपक्षीय सम्बन्धों में दुसरे शक्तियों से दुरी बनाये रखना है। एकलवाद से तात्पर्य सुनियोजित जोखिम उठाकर अपने ही नीतियों पर सदैव चलना, जैसे अपने थर्मोन्युक्लीयर हथियारां को नष्ट करना। असम्बद्धता से तात्पर्य विभिन्न महाशक्तियों के बीच चल रहे विचारधारात्मक सघंर्ष से दुरी बनाए रखना, लेकिन कुछ विशेष परिस्थिति में जबकि दूरी बनाये रखना असम्भव हो तो, कुछ हद तक एक विशेष गुट की तरफ झुकने से है।

गुटनिरपेक्ष का तात्पर्य, महाशक्तियों के साथ किसी भी तरह के सैन्य गुट में गैर-सहभागिता से है। भारतीय गुटनिरपेक्षता के नीति के निर्माण कर्त्ता, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी गुट निरपेक्षता को राष्ट्रों के द्वारा सैन्य शक्ति से दुरी बनाये रखने के रूप में परिभाषित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि, जहाँ तक सभव चीजो को सैन्य दृष्टि से न देखना, बल्कि देशो को स्वतंत्र रूप से अन्य देशों के साथ स्वतंत्र मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने से है।

नेहरू के अनुसार गुटनिरपेक्षता एक विस्तृत अवधारणा है। तटस्थ देशों के विपरित, गुटनिरपेक्ष देश प्रत्येक घटना को उसके गुणो के आधार पर परखेगा न कि केवल दुसरे देशों के दृष्टिकोण के अनुसार। इस वधरणा का सिधा सम्बन्ध स्वतंत्रता से है। तटस्थता के विपरित गुटनिरपेक्षता का संबध शांति एवं युद्ध दोनों की अवस्थाओं से होता है। गुटनिरपेक्षता की नीति प्रत्येक देशों को विभिन्न परिस्थितियों में अपने-अपने निर्णय के अनुसार अपने-अपने र्राष्ट्रीय हितों में अभिवृद्धी करने के नीति

पर आधारित है। लेकिन गुटनिरपेक्षता की नीति अन्तराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उदासिनता नहीं है। गुटनिरपेक्षता के अवधारणा को स्पष्ट करने लिए इसे दो रूपो में दिखना आवश्यक है- साकारात्मक और नाकारात्मक। नाकारात्मक रूप में यह किसी भी प्रकार के सैन्य गठजोड़ को निषेध करता है। यह गुटनिरपेक्षता का सबसे निम्नतम शर्त माना जा सकता है। अपने-अपने विदेश नीति का संरक्षण सवंर्द्धन गुटनिरपेक्षता का महत्वपूर्ण सकारात्मक स्वरूप है। यह पांरपरिक रूप से विदेश नीति का संरक्षण और संवर्द्धन गुटनिरपेक्ष का सबसे माना जा सकता है।अप ने विदेश नीति का संरक्षण और संवर्द्धन गुटनिरपेक्षता का सबसे महत्वपूर्ण सकारात्मक स्वरूप है। यह पांरम्परिक रूप से विदेश नीति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त भी माना जाता है। साकारात्मक रूप में यह विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर खुल कर उसके गुणों-अवगुणों के आधार पर निर्णय लेना भी है।

यदि देखा जाय तो गुटनिरपेक्ष के नीति की शुरूआत एक साकारात्मक अर्न्राष्ट्रीय घटना के द्वारा हुई थी। इस आन्दोलन का बीज 1955 में इण्डोनशिया के वांडुंग में हुए एफ्रो-एशियाई देशो के सम्मलेन में पड़ गई थी। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के नवोदित स्वतंत्र देशों ने पूर्व-पश्चिमीवैचारिक संघर्ष मे शामिल न होने की स्वतंत्र इच्छा की घोषणा की थी। एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में गुटनिरपेक्षता के विकास के लिए बांडुग सम्मेलन मील का पत्थर साबित हुआ।

आगे चलकर 1961 में युगोस्लाविया के बेलग्रेड में हुए प्रथम सम्मलेन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की औपचारिक शुरूआत हुई। इस सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए कुछ प्रतिबद्धताओं की घोषणा हई थी, जिसके माध्यम से गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का अर्थ बहुत हद तक स्पष्ट किया जा सकता है-

I.शाति और निशस्त्रीकरण, मुख्य रूप से महाशक्तियों के बीच तनाव को कम करना।

II.स्वतत्रंता, सारे औरपनिवेशिक लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार तथा सभी प्रजातियो को समानता का अधिकार।

III.आर्थिक समानता की माँग, मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की पुर्नसंरचना की मागँ मुख्य था, जिसमें गरीब और सम्पन्न राष्ट्रों की बीच असमानता न हो।

IV.सांस्कृतिक समानता की माँग। पश्चिमी सांस्कृतिक वर्चस्व का विरोध।

VI.सार्वभौमिकतावाद और बहुदेशवाद की मागँ, जिसमें, सयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था में विश्वास पर जोर दिया जाए।

स्पष्ट है कि ये सारे के सारे प्रतिबद्धताएँ आज के सन्दर्भ में भी प्रासगिक है। शीत युद्ध के समाप्त होने से विकासशील और गैर-विकसीत देशो की समस्याए अभी खत्म नहीं हुई है।

9.4 भारतीय गुट निरेपक्षता की अवधारणा

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के गठन में भारत के जवाहर लाल नेहरू, इण्डोनेशिया के सुकार्णे, इजिप्ट के कर्नल नासिर और घाना के क्वामे एनक्रुमा का योगदान महत्वपूर्ण है। परन्तु जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में भारत ही वह पहला देश था जिसने गुटनिरपेक्षता की नीति को सर्वप्रथम अपनाया। जिसका सीधा तात्पर्य अपनी विदेश नीति को स्वतत्रं बनाये रखना, किसी भी शक्ति गुट से संलग्न न होना, अपने विकल्पो को खुला रखना, पूर्वधारणा आधारित निर्णयो को न लेना और सभी मुद्दो को उसके गुण-दोषों के आधार पर परखना था। भारतीय गुटनिरपेक्षता का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दो से अलगाव नहीं था। जैसा कि नेहरू जी ने 1948 में अमेरिकी काँग्रेस में घोषणा के द्वारा स्पष्ट किया था कि जहाँ पर भी स्वतंत्रता को कुचला जायेगा या न्याय को खतरा पहुंचाया जायेगा, या फिर आक्रमण होता है, हम न तटस्थ रह सकते है, न ही रहेंगे.....। हमारी नीति तटस्थतावाद नहीं है बल्कि हमारा मुख्य उद्देश्य शान्ति का संरक्षण है। भारतीय गुटनिरपेक्षता की मुख्य विशेषताओं को निम्न उपशीर्षकों के माध्यम से देखा जा सकता है।

I.सैन्य गठजोड़ का विरोध - गुट निरपेक्षता का एक मुख्य आवश्यक शर्त सैन्य गठजोड़ का विरोध करना था। सैन्य गठजोड़ के कारण पाकिस्तान शुरू-शुरू में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में शामिल नहीं हो सका था, क्योकि वह पश्चिमीसैन्य सगठनों-दक्षिण पूर्व अटलांटिक एशियाई सन्धि-संगठन (सीटो) तथा मध्य पूर्व सन्धि संगठन (सेंटो) का सदस्य था। बाद में 1979 में इन सैन्य संगठनों की सदस्यता छोड़ने के बाद वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बन सका।

II.राष्ट्रीय हित का सवर्द्धन - गुटनिरपेक्ष का तात्पर्य अपने विदेश नीति के स्वतंत्र रखने से भी था क्योंकि इसी के माध्यम से कोई भी देश विभिन्न विकल्पों में से सर्वोतम विकल्प चुन सकता था। विभिन्न मुद्दो पर उसके गुणो-दोषों के आधार निर्णय दे सकता था।

III.शीत युद्ध का विरोध - गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के जन्म के पीछै शीत युद्ध ही मुख्य कारण था जो कि अमेरिका और सोवियत संघ के आक्रामक गुट निर्माण के प्रक्रिया के रूप में पहचाना जाता था। इस शीत युद्ध के वातावरण ने गुटनिरपेक्षता के नीति के उद्भव के लिए एक सशक्त आधर प्रस्तुत किया, क्योंकि इसी नीति के माध्यम से आसानी से विश्वशान्ति के लक्ष्य को पूरा किया जा सकता था। विशेषक कर यह एशिया और अफ्रिका के नवोदित स्वतंत्र देशों के लिए ज्यादा उपयोगी था क्योंकि इसके माध्यम से वे संघर्ष से दुर रहकर, विकास के मार्ग को अपना सकते थे।

IV.शक्ति के राजनीति का विरोध - गुटनिरपेक्षता शक्ति राजनिति के स्थान पर प्रभाव राजनीति का विकल्प प्रस्तुत करता है जो कि शांति, न्याय और विकास जैसे मुद्दो को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य लक्ष्य मानता है।

V.अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना - शीत युद्ध ने अनावश्यक रूप से विश्व में आंतक और अशांति का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। गुटनिरपेक्षता की नीति का मुख्य दर्शन यह है कि शक्ति के माध्यम से किसी भी समस्या का हल नहीं प्रस्तुत किया जा सकता बल्कि इससे समस्या और गंभीर हो जाती है। जबकि अन्तराष्ट्रीय शांति के माध्यम में विश्व में व्यापत गरीबी तथा अविकास जैसे मुद्दों का आसानी से हल प्रस्तुत किया जा सकता है।

VI.स्वतंत्र विदेश नीति का पालन - किसी भी गुट में शामिल न होकर कोई भी देश स्वतंत्र विदेश नीति का पालन कर सकता है तथा अपनी सम्प्रभुता एवं राष्ट्रीय हित का संरक्षण एवं संवर्द्धन कर सकता है।

VII.गुटनिरपेक्षता क्रियात्मकता आधारित नीति है न कि अलगाववाद आधारित- गुटनिरपेक्षता की नीति अलगाववाद की नीति का विरोध करती है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तटस्थता एक प्रकार से अन्याय का समर्थन ही होता है। इसके विपरीत गुटनिरपेक्षता की नीति, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे पूर्ण भागीदारी तथा निरंतर सहयोग के लिए तत्परता की नीति है।

VIII.दोहरी गुट की नीति नहीं - गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है न कि संगठन जिसे किसे औपचारिक संगठन के समर्थन की आवश्यकता है। निर्गुट आन्दोलन देशों का कोई तीसरा गुट नहीं है। वास्तव में गुटनिरपेक्षता शांति और विकास के मार्ग पर चलने की एक वैक्लपिक व्यवस्था है।

IX.विकास का अपना प्रतिरूप - गुटनिरपेक्षता की नीति अपने पर थोपे गये किसी भी तरह के विकास के प्रतिरूप का पुर-जोर विरोध करती है। यह नीति गुटनिरपेक्ष देशों को अपने आर्थिक, राजनीतिक और समाजिक व्यवस्था को आकार देने के लिए स्वयं का अपना प्रतिरूप और दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देती है। इसके लिए अर्न्राष्ट्रीय स्तर पर अन्तराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का नवनिर्माण करने का प्रयास करती है।

X.नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का निर्माण - नवीन अन्तराष्ट्रीय विश्व अर्थव्यवस्था की मागँ, गुटनिरपेक्षता की नीति को एक नवीन आयाम देती है। इसी के साथ या विश्व राजनीति को भी पूर्नपरिभाषित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बधों के सन्दर्भ में ''यथास्थितिवाद'' का विरोध करती है।

इस प्रकार भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति तात्पर्य उपनिवेशवाद, सामाज्यवाद प्रजातीवाद तथा आधुनिक सन्दर्भ में नव-उपनिवेशवाद के विरोध से है। यह महाशक्तियों के वर्चस्व का विरोध करती है। यह सभी देशों के समान सम्प्रभुता तथा उनमें मित्रवत सम्बन्ध को बढ़ावा देने में विश्वास करती है। यह अर्न्राष्ट्रीय विवादो के शांति पूर्ण समाधान में विश्वासकरती है। तथा शक्ति द्वारा किसी भी तरह के समाधान का सर्वथा विरोध करती है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था तथा निःशास्त्रीकरण के प्रक्रिया

का समर्थन करती है। सबसे महत्वपूर्ण भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति सामाजिक और आर्थिक मुद्दो को प्राथमिकमता देती है। भारत नवीन आर्थिक अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था का पूर्ण समर्थन करता है, जिससे विश्व में अन्यायपूर्ण एवं अंसतुलीत आर्थिक व्यवस्था के जगह न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना हो सके।

9.5 गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने का कारण

भारत द्वारा गुटनिरेक्ष की नीति अपनाने के पिछे निम्न कारण थे-

नाकारात्मक तत्व

I.शीत युद्ध - भारत को अपने विकास की चुनौति से निपटने के लिए दोनों गुटों के सहायता की आवश्यकता थी। अतः भारत ने दोनां गुटों स दुरी बनाये रख, दोनों से मित्रतापूर्ण संबंध रखने का प्रयास किया।

II.सैनिक सगंठन-नाटो, सीटो, सेंटो, वारसा पैक्ट जैसे सैन्य संगठन शीत युद्ध के देन थे। इनमें से किसी संगठन में शामिल होना, विपक्षी गठबंधन से शत्रुता लेना था। साथ ही ये सैन्य संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा और शस्त्र होड़ को बढ़ाने वाले थे।

III.साम्राज्यवाद और उपनिवेशाद का विरोध - शीत युद्ध के समय हो रहे विचारधारात्मक और प्रसारवादी संघर्ष एक तरह उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के पर्नावृति का प्रयास था अतः इनका विरोध गुटनिरपेक्षता की नीति के पालन से आसानी से सम्भव था।

सकारात्मक तत्व

I.प्रबल राष्ट्रवाद - सभी सम्प्रभु राष्ट्रों की तरह भारत भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतत्रं भागीदारी चाहता था। गुटनिरपेक्ष की नीति इसके लिए सर्वथा उपयुक्त प्लेटफार्म था।

II.राष्ट्रीय हित - गुटनिरपेक्ष की नीति को अपनाने के पश्चात् भारत के पास सभी तरह के विकल्प खुले थे, जोकि किसी एक गुट के साथ होने पर सभंव नहीं था।

III.आर्थिक विकास की आवश्यकता - गुटनिरपेक्षता के नीति के साथ भारत दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त करने में सक्षम था।

IV.शान्ति की स्थापना - गुटनिरपेक्षता की अवधारणा और भारत के पारम्परिक विश्वासों शांति, अहिंसा, सहिष्णुता इत्यादि में बिल्कुल अनूरपता है। अतः गुटनिरपेक्षता के माध्यम से भारत अपने स्वाभाविक शांतिवाद विकास के मार्ग पर चल सकता था।

V.विश्व राजनिति में सक्रिय भूमिका - भारत जैसा विशाल देश विश्व राजनिति में किसी विशेष गुट का पिछलग्गु बन कर नहीं रह सकता था। उसे सारे गुटो से हटकर अर्न्राष्ट्रीय राजनीति को एक साकारात्मक आयाम देना था। गुटनिरपेक्षता की नीति निश्चय ही इसके लिए उचीत मंच था।

VI.भू-राजनीति तत्त्व - भारत विश्व को दो सबसे बड़े साम्यवादी देशों चीन और सोवियत संघ रूस का पड़ोशी था। राजनीतिक रूप से एक लोकतांत्रिक देश होने के चलते भारत पश्चिम के नजदीक था, जबकि भौगोलिक रूप से पूर्व के नजदीक। इस स्थिति भारत का किसी एक गुट के साथ जाना उचित नहीं था।

स्पष्ट है कि गुटनिरपेक्ष की नीति अपनाने के पिछे अनेक कारण उत्तरदायी थे। 5-12 जुन 1961 में काहिरा में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रथम सम्मेलन के तैयारियो के लिए हुए मीटिगं में गुटनिरपेक्षता के लिए पाँच शर्त्ते तय की गई। ये शर्ते निम्न लिखित है-

I.देशों को स्वतंत्र विदेश नीति अपनाना होगा, जो कि विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था वाले देशो के साथ शांतिपूर्ण सह अस्तिव पर आधारित होनी चाहिए। इन राज्यों की विदेश नीति गुटनिरपेक्षता पर आधारित होनी चाहिए।

II.इन देशों को विभिन्न देशों में चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनो को समर्थन देना चाहिए।

III.गुटनिरपेक्ष देशो को महाशक्तियों में चल रहे संघर्ष हेतु स्थापित बहुपक्षिय सैनिक सगठनों का भाग नहीं होना चाहिए।

IV.यदि किसी देश का किसी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक गठंबधन है या वह किसी क्षेत्रीय सुरक्षा संधि का सदस्य है, तो ये गठजोड़ जानबुझकर शीत युद्व के सन्दर्भ वाले नहीं होने चाहिए।

V.यदि कोइ गुटनिरपेक्ष देश किसी विदेशी शक्ति को अपने यहाँ सैनिक अड्डा बनाने की सहमति देता है तो यह आवश्यक रूप से महाशक्तियों के शक्ति संघर्ष के सन्दर्भ में नहीं होना चाहिए।

15.6 भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के विकास के विभिन्न चरण

भारतीय गुटनिरपेक्ष नीति के इतिहास को निम्न चरणों में विभाजित यिा जा सकता हैं

I. 1946-1954 यह चरण गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का शुरूआती निर्माण काल था। सितम्बर 1946 में अतरिंम सरकार में शामिल होने के तुरतं बाद जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट किया था कि, भारत की अर्न्राष्ट्रीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका होगी तथा भारत एक स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण करेगा जो कि इसके राष्ट्रीय हित में होगी। इस स्वतंत्र विदेश नीति का तात्पर्य होगा कि भारत किसी भी गुट में शामिल नहीं होगा। परन्तु कुछ विश्लेषक ऐसा मानते है कि भारतीय गुटनिरपेक्षता अपने

आरभिंक दैर में पश्चिम की तरफ झुका हुआ था विशेषकर अमेरिका की तरफ। इसके कुछ महत्वपूर्ण कारण थें-

i.भारत सुरक्षा उपकरणों के लिए मुख्यतः ब्रिटेन पर निर्भर था। हमारी सेना ब्रिटीश स्वरूप पर आधारित थी।

ii.भारतीय प्रबृद्ध जनमानस तथा नेतृत्व शासन के वेस्टमिनिस्टर स्वरूप से अत्यन्त प्रभावति था

iii. हमारे व्यापार सबधं मुख्यतः पश्चिमीदेशों के साथ थे।

iv.तथा अतं में उस समय सोवियत नीति विकासशील देशों के पक्ष में नहीं थी तथा गैर साम्यवादी देश को साम्यवाद विरोधी देश माना जाता था।

लेकिन भारत के पश्चिम की ओर झुकाव के बावजूद, पश्चिम ओर पूर्व के बीच एक तरह का सेतु बनने का काम किया। जैसे भारत ने सयुंक्त राष्ट्र के इस निर्णय को स्वीकार किया था कि उत्तरी कोरिया आक्रमण कारी है, परन्तु सयुंक्त राष्ट्र सघं सेना के उत्तरी कोरिया में प्रवेश का विरोध किया था। कोरिया संकट के समाधन में भारत की अत्यन्त ही महत्वपूर्ण भूमिका थी। भारत ने 1949 में सर्वप्रथम साम्यवादी चीन को मान्यता दी। इस समय तक सोवियत रूस से भारत का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। परन्तु जब भारत ने दक्षिण पूर्वी एशियाई संधि सगंठन (सीटों) में शामिल होने के अमेरिकी प्रस्ताव को ठुकराया, तब से सोवियत संघ गुट भारत के साथ सहयोगी संबध स्थापित करने का प्रयास करने लगा था।

II. 1954-62- गुटनिरपेक्षता के इस चरण में 1954 में भारत ने सर्वप्रथम चीन के तिब्बत पर अध्पित्य को स्वीकार किया। भारत और चीन ने भारत और तिब्बत के बीच व्यापार संबधी सुवधाओं के लिए मसौदा तैयार किया। इस मसौदे का प्रस्तावना पंचशील सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है जो कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित है। यह तय किया गया कि दोंनो देश आपसी संबधों को पंचशील के आधार पर ही विकसीत करेगे इस चरण में एफ्रो-एशियाई देशों का वांडुंग सम्मेलन हुआ, जो कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की आधार शिला थी। यह सम्मेलन वांडुंग में 18-24 अप्रैल 1955 के दौरान सम्पन्न हुआ इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका दोंनों महाद्विपों के 29 देशों के राज्यध्यक्षों ने भाग लिया जो कि इन देशों की पहली उत्तर-औपनिवेशिक नेतृत्व की पिढ़ी थी तथा जिनकाउद्देश्यविश्व मुद्दों पर विचार-विमर्श कर उनके समाधान के लिए सामुहिक नीतियो का निर्माण एवं कार्यन्वयन था। बांडुग सम्मेलन के छः वर्षो बाद 1-6 दिसम्बर 1961 के दौरान गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पहले सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन का भोगोलिक आधार वांडुंग से ज्यादा व्यापक था। इसमें 25 देशो के राज्याध्यक्षो ने भाग लिया था।

III.1962-71 - इस चरण में सर्वप्रथम भारत और चीन के मध्य हुए सीमा विवाद के कारण 1962 में दोनों देशों के बीच युद्ध छीड़ गया। युद्ध के दौरन नेहरू ने अमेरिका से सैन्य सहायता लेने का प्रयास किया जो कि आलोचको के निर्गुट राज्य के रूप में भारत की स्थिति पर सवाल उठाने के लिए पर्याप्त था। इसके अलावा भारत चीन सीमा विवाद ने भारत के सैन्य तैयारियों और कमजोर सुरक्षा व्यवस्था पर भी प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया था। आलोचको का मानना था कि विदेश नीति, सुरक्षा नीति द्वारा समर्थित होती है और युद्ध मे भारत की असफलता भारतीय विदेश नीति की विफलता को दर्शाता है। परन्तु यह धरणा सुरक्षा नीति के संकुचित अवधारणा पर आधारित थी। भारतीय गुटनिरपेक्षता जिस तरीके से संचालित हो रही थी, सोवियत रूस ने वही रूख अपनाया। उसने युद्ध में बजाय कम्युनिस्ट भाई और एक गैर पूँजीवादी मित्र (भारत) में से किसी एक से चुनने में तटस्थता की नीति अपनाई, और दोनों देशों को प्रत्यक्ष वार्ता के माध्यम से युद्ध अतं करने का सलाह दिया। गुटनिरपेक्षता की नीति इतनी लचीली थी। कि भारत युद्ध के दौरान अमेरिका से सहायता प्राप्त कर सकता था। भारत ने पहली बार इतने बड़े पैमाने पर सैन्य सहायता की माँग की थी। दुसरी तरफ नेहरू के शब्दों मे गुटनिरपेक्षता की नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के सुरक्षा का एक साधन थी। विशेषकर जब भारत की सुरक्षा हित खतरे में हो तब गुटनिरपेक्षता का तंत्र खतरे के हटाने के लिए भारत को महाशक्तियों से सैन्य सहायता प्राप्त करने का स्पष्ट रूप से सुविधा मुहैया कराता था । संक्षेप में महाशक्तियों में से एक से सैन्य सहायता प्राप्त कर भारत उपमहाद्विप में शान्ति बहाल करने में सक्षम हुआ। युद्ध में हारने के बावजुद, बिना गुटनिरपेक्षता के मूल को त्याग किये भारत ने इस प्रक्रिया को पुरा किया। 1964 में नेहरू के निधन के बाद उनके उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्.त्री ने अधिक दृढ़ता से गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन किया। यहाँ तक की 1964 में चीन के प्रथम परमाणु परीक्षण करने के बावजूद शास्त्री जी ने परमाणु परीक्षण करने के लिए किसी भी तत्काल भारतीय योजना से इकारं किया। उसी समय भारत में लगभग 18 महिनो की खाद्यान की कमी हुई थी। अमेरिका ने वियतनाम युद्ध में भारत के समर्थन के शर्त पर भारत को सहायता की पेशकश किया। लेकिन भारत ने इस शर्त्त को स्वीकार नहीं किया 1965 के भारत-पाक युद्ध में अमेरिका और चीन दोनों ने पाकिस्तान को मदद दिया। दुसरे तरफ भारत को सोवियत संघ ने हथियारों की सहायता प्रदान किया। भारत ने इस युद्ध को जीत करके अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त किया। दुर्भाग्य से लाल बहादुर शास्त्री जी का ताशकंद समझौता होने के बाद निधन हो गया। इसके बाद इदिंरा गाँधी भारत की प्रधानमंत्री बनी । जिन्होने पूनः एफ्रो-एशियन देशो के सगंठन को बढ़ावा देने का प्रयास किया।

IV. 1971-1990 - इस दौर में भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति को एक और चुनौति भारत-पाक के बीच 1971 के युद्ध के द्वारा मिला जो कि अतंतः बाग्लादेश के जन्म का कारण भी बना । भारत की मदद से बाग्लादेश एक सम्प्रभु राष्ट्र बना। इसी दौरान 1971 में भारत ने सोवियत संघ के साथ मैत्री और सहयोग का समझौता किया । यह संधि अमेरिका के युद्ध में पाकिस्तान के पक्ष में शामिल होने के भारत को दिये गये धमकी के निवारक क रूप में किया गया था। दूसरी तरफ सोवियत सघं ने भी

भारत के गुटनिरपेक्ष की नीति का समर्थन करते हुए इस संधि को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए उपयोगी बताया। अतः इस संधी को गुटनिरपेक्षता की नीति विरूद्ध बताना सही नहीं है। भारत जैसा देश उस समय इस उपमहाद्धीप में हो रहे घटनाओं के प्रति निष्क्रीय नहीं बना रह सकता था।

भारत द्वारा निभाया गया यह सक्रिय भूमिका वास्तव में गुटनिरपेक्षता के आदर्श का पालन था, क्योंकि इसके द्वारा जहाँ भारत ने अपनी क्षेत्रीय अखण्डता और एकता को सुरक्षित किया वही दुसरी तरफ मानवता खिलाफ हो रहे अन्याय का सशक्त विरोध किया। आगे चलकर जनता पार्टी सरकार ने ''वास्तविक गुटनिरपेक्षता '' का नारा दिया जो कि महाशक्तियों से समान दुरी बनाये रखने के सिद्धान्त पर आधारित थी। यद्यपि कुछ आलोचको मानना था कि जनता सरकार के काल में भारत-सोवियत संघ संबंध थोड़ा ठड़ा पड़ा, जबकि भारत-अमेरिका संबधों में सुधार हुआ। लेकिन कुछ भी हो जनता सरकार भी सोवियत संघ के विरूद्ध नहीं गया। इस सरकार ने चीन और पाकिस्तान से भी संबधों में सुधार किया। इसी दौरान भारत ने अमेरिका के दबाव की अवहेलना करते हुए परमाणु अप्रसार संधी पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। 1980 से 1990 तक के काल में भारत और सोवियत संघ के सबंध अपने ऊँचाई पर थे। परन्तु भारत अपने गुटनिरपेक्ष नीति का लगातार बढ़ावा देता रहा। भारत ने इसी समय 1983 में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के साँतवें बैठक की मेजबानी किया। 1990 तक आते-आते शीत युद्ध की समाप्ती की घोषणा हो गई।

V. 1991 से अब तक - सोवियत संघ के बिखराव के बाद शीत युद्ध के समाप्ति की घोषणा हुई तथा इस घटना ने गुटनिरपेक्षता के प्रासंगिकता को सबसे बड़ी चुनौति दिया। अनेक आलोचको का मानना था कि गुटनिरपेक्षता का अर्थ, महत्व और प्रासंगिकता, शीत युद्ध के कारण ही था। परन्तु अब जबकि सोवियत गुट पुरी तरह टुट गया था, देशों द्वारा गुटनिरपेक्षता के नीति को अपनाने का कोई अर्थ नहीं था। लेकिन इसी समय अपने पाँचवें चरण में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने उभरते हुए नवीन विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में नया स्वरूप धरण किया। अब भारतीय गुटनिरपेक्षता का प्रमुख मुद्दा आर्थिक, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करना हो गया। आगे चलकर नरसिम्हा राव सरकार ने अमेरिका के व्यापक परमाणु अप्रसार निषेध संधि ;ब्ज्ठज्द्ध का समर्थन किया जो कि नेहरूवादी निःशस्त्री करण नीति की पूर्नावृत्ति थी। आगे चलकर इन्द्र कुमार गुजराल और देवगौड़ा के नेतृत्व में भी भारत ने उत्तर शीत युद्ध काल के दौरान भारतीय विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता के महत्व को स्वीकारा और इस नीति का लगातार समर्थन करते रहे। भारत, इजिप्ट और क्यूबा के नेताओं ने गुटनिरपेक्ष आदोलन के कार्टेगना (1996) और डरबन (1998) सम्मेलनों में दक्षिण-दक्षिण संवाद पर जोर दिया तथा पर्यावरण के मुद्दा को पृथ्वी के अस्तीत्व के लिए सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा बताया। क्वालालम्पुर में 2003 के गुटनिरपेक्षता आन्दोलन के 13 वें सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के पुनरोद्धार का प्रयास किया गया। इस सम्मेलन में एकलवादी वर्चस्व की आलोचना की गई तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और सशक्त बनाने पर जोर दिया। भारत ने

गुटनिरपेक्ष देशों के मध्य अधिक से अधिक व्यापारिक सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। भारत ने शुरू से ही गुटनिरपेक्षता की नीति को विकासशील देशों के द्वारा अपने आर्थिक स्थिति को सुधारने का एक मचं के तौर पर देखा है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने अनेकों सघर्षों का शांतीवादी ढ़ग से सुलझाने का प्रयास किया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के 14वें सम्मेलन में भारत के तात्कालिन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के बदलते भूमिका और प्रांसगिकता पर जोर देते हुए, समावेशी भूमण्डलीकरण, पश्चिम एशिया के लिए उच्च स्तरीय समुह का निर्माण, ऊर्जा चुनौति से निपटने के लिए ऊर्जा सुरक्षा का गुटनिरपेक्ष देशों की समीति बनाने इत्यादि का आह्वान किया। इजिप्ट में हुए 15 वें गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री ने आतंकवाद को वैश्विक शांति के लिए खतरा बताया और उससे निपटने के लिए पुरे विश्व को एक होने की माँग की। तेहरान में हुए 16 वें सम्मेलन में भी भारतीय प्रधानमंत्री ने गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सामुहिक लक्ष्य, शांति और समृद्धि को साकार करने के प्रयास पर जोर दिया। इस प्रकार हम कह सकते है कि उत्तर शीत युद्ध काल में भी भारत गुटनिरपेक्षता की नीति को लगातार समर्थन और सवर्द्धन करने का प्रयास कर रहा है।

9.5 अभी तक संपन्न गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मलेन

स्थान	वर्ष	भाग लेने वाले देशो की संख्या	मुद्दा
.1बेलग्रेड (यूगोस्लाविया)	1961	25	गुटनिरपेक्ष आंदोलन का औपचारिक शुभारंभ,प्रतिभागियों को द्वारा आंदोलन को पहचान करने के लिए शब्द को अस्वीकार कर दिया। "तटस्थ" भले ही उसके आगे"सकारात्मकउपसर्ग का ही " प्रोयोग क्यो ना हो|
.2काहिरा (मिस्र)	1964	47	इसमे उस समय के तीसरीदुनियाँके लिए चिंता का विषयों जैसे उपनिवेशवाद के समापन, नस्लीय भेदभाव, आत्मनिर्णय, निरस्त्रीकरण, सैन्य गठबंधन, और आर्थिक विकास इत्यादि मुख्य रूप से राजनीतिक मुद्दों पर चर्चा हुई।
.3लुसाका(ज़ाम्बिया)	1970	54	शिखर सम्मेलन में आंदोलन का प्रारंभिक उद्देश्य - आर्थिक मुद्दो को वरीयता दी गई**a**। शिखर सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को लोकतांत्रिक बनाने तथा एक

			अनिवार्य आवश्यकता के रूप में, स्वतंत्रता विकास और सहयोग जैसे मुद्दो को साथ इस प्रक्रिया को जोड़ने की बात की गई।
.4अल्जीयर्स (अल्जीरिया)	1973	76	एकनवीन आर्थिक विश्व व्यवस्था बनाने का आह्वान किया गया और इसके लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा मे एक प्रस्ताव लाने की बात की गई।
.5कोलंबो (श्रीलंका)	1976	87	एशियाई महाद्वीप में आयोजित होने वाला पहला शिखर सम्मेलन । यह उस समय हुआ था जब पूरे विश्व मे राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रताओं, शांति और प्रगति,दुनियाँके सभी लोगों के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार तथा शांतिपूर्ण सहअस्-तित्व के लिए लोगों द्वारा संघर्ष किया जा रहा था।
.6हवाना (क्यूबा)	1979	100	लैटिन अमेरिका में आयोजित होने वाले इस पहले शिखर सम्मेलन में इस क्षेत्र की समस्याओं के समाधान की शुरुआत की बात की गई। साथ हीं वैश्विक परिदृश्य पर संघर्ष की संख्या की वृद्धि पर भी चर्चा हुई। शिखर सम्मेलन मे आत्मनिर्णय के अधिकार और मानव स्वतंत्रता पर एक तदर्थ घोषणा भी जारी किया गया।
.7नई दिल्ली (भारत)	1983	101	इसमे सुपर शक्तियों के बीच बढ़ रही बेलगाम आयुध होड़ और विकसित और विकासशील देशों के बीच तेजी से बढ़ती आर्थिक खाई को समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दो बुनियादी मुद्दों के रूप में पहचान की गई।
.8हरारे (जिम्बाब्वे)	1986	101	इस शिखर सम्मेलन में रंगभेद और नस्लीय भेदभाव का स्पष्ट शब्दों में निंदा की गई
.9बेलग्रेड (यूगोस्लाविया)	1989	103	शिखर सम्मेलन मे कई मुद्दों की समीक्षा की गई जैसे; फिलीस्तीन लेबनान और अफगानिस्तान में स्थिति; ईरानीइराक सबंध-, पश्चमी सहारा, साइप्रस और कोरिया के घटनाक्रम; रंगभेद नीति; दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की स्थिति; आदि |इसके अलावा विकास में महिलओं का प्रश्न, पर्यावरण की भूमिका, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार,

			खाद्य और कृषि, विकासशील देशों के बीच आर्थिक सहयोग इत्यादि की भी चर्चा हुई।
.10जकार्ता (इंडोनेशिया)	1992	108	शिखर सम्मेलन मे कई मुद्दों पर चर्चा की गई जैसे; शीत युद्ध के बाद के युग में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के लिए एक नई भूमिका के लिए खोज, समानता, न्याय और लोकतंत्र के आधार पर एक नई विश्व व्यवस्था के निर्माण की समस्या; ऋणग्रस्तता की समस्या; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग, निरस्त्रीकरण; मानव अधिकार; फिलीस्तीनी मुद्दा और सोमाली संकट।
.11कार्टागेना (कोलम्बिया)	1995	113	शिखर सम्मेलन विकासशील देशों के समग्र विकास लिए, और अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और एक नए विश्व व्यवस्था के निर्माण का आह्वान किया गया ।शीत युद्ध के बाद के युग में विकासशील देशों के प्रवक्ता के रूप में आंदोलन की भूमिका बढ़ाने का निश्चय किया गया। शिखर सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के पुनर्गठन, विकासशील देशों मे मानव अधिकार, पर्यावरण संरक्षण और आतंकवाद मे वृद्धि इत्यादि मुद्दो पर भी चर्चा की गयी।
.12डरबन दक्षिण) (अफ्रीका	1998	115	यह शिखर सम्मेलन अपने समय और जारी किए गए प्रस्तावों की महत्ता से इसके अत्यंत उल्लेखनीय है। उत्तरयुद्ध युग के नये चुनौतियों का सामना करने -शीत- के लिए रणनीतियों का निर्माण किस प्रकार हो, यह प्रमुख मुद्दा था। इसके लिए आंदोलन के सदस्यराज्यों - ने नई सहस्राब्दी में आंदोलन का दृष्टिकोण, पहचान, भूमिका और नीति विस्तृत करने के लिए अवसरो के तलाश पर ज़ोर दिया l
.13कुआलालंपुर (मलेशिया)	2003	116	शिखर सम्मेलन मे कई मुद्दो पर सदस्य देशों के बीच मतभेदों को देखा गयाl जिनमें से शीर्ष पर इराक, दक्षिण कोरिया और तथाकथित आतंकवाद के मुद्दे थेl । वास्तव में शिखर सम्मेलन ने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रमो को समझने तथा उनके निदान की बात की गई ,इसमे

			अमेरिका द्वारा इराक मामले में हस्तक्षेप सबसे आगे आया।
.14हवाना (क्यूबा)	2006	118	सम्मेलन अच्छा या बुरा के रूप में राज्यों के वर्गीकरण की निंदा किया गया | सावधानी के पहले हमला करने का सिद्धांत जिसमेपरमाणु हथियारों से हमले भी शामिल थे की भी आलोचना हुई |निरस्त्रीकरण के मुद्दे पर, परमाणु अप्रसार के लिए प्रयासों को, परमाणु निरस्त्रीकरण के समान होना चाहिए माना गया | इस संबंध में, शिखर सम्मेलन मे परमाणु निरस्त्रीकरण के लिए एक चरणबद्ध कार्यक्रम पर सहमती के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन को आयोजित करने का आह्वान किया गया
.15शर्म अल शेख (मिस्र)	2009	118	गुटनिरपेक्ष आंदोलन के नेताओं ने उनके निरंतर परमाणु हथियारों के उन्मूलन, परमाणु हथियार मुक्त क्षेत्र के लिए सरकार का समर्थन करने के लिए, विशेष रूप से मध्य पूर्व में, प्रतिबद्धता को दोहराई, और शांतिपूर्ण परमाणु ऊर्जा के उपयोग की घोषणा भी की |
१६ (ईरान) तेहरान.	2012	120	शिखर सम्मेलन का शिर्षक संयुक्त वैश्विक शासन के " था "माध्यम से स्थायी शांति| शिखर सम्मेलन का मुख्य दस्तावेज मे शांति पर जोर दिया गया | प्रतिभागीयों ने दुनियाँमें वैश्विक शासन में मौलिक परिवर्तन और शांति स्थापित करने की पूर्व शर्त के रूप में दुनियाँ के सामूहिक प्रबंधन और दुनियाँ को संघर्ष से बचने का आह्वान दिया |

9.8 गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की प्रासंगिकता

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 16 वाँ सम्मेलन इरान के तेहरान में 30-31 अगस्त 2012 को सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन पिछले पाँच दशकों में सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था कि जैसा कि इसमें 120 देशों के राज्याध्यक्षो ने भाग लिया और 17 देशों के प्रतिनिधियों ने समीक्षक के रूप में सम्मेलन में भाग लिया।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ जैसा अनिवार्य सदस्यता वाला संगठन नहीं है। यह एक एच्छिक सदस्यता वाला संगठन है, फिर भी बेलग्रेड (1961) के पहले सम्मेलन के 25 सदस्य संख्या

वाला यह संगठन आज 120 सदस्यों वाले बड़े आन्दोलन में परिवर्तित हो चुका है, जिसमें विभिन्न इतिहास संस्कृति और राजनीतिक व्यवस्था वाले देश एकजुट होकर वैशविक मुद्दों पर सामुहिक शांतिपूर्ण समाधान पर पँहुचने का प्रयास करते है। आखिर ऐसा क्या था कि इतनी में संख्या में विभिन्न देशों ने इसकी सदस्यता ली, जबकि इस संगठन के पास अपने निर्णयो को मनवाने के लिए कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है। सदस्य देशों का ऐसे संगठन में शामिल होने का क्या फायदा है? ऐसा कहा जा सकता है कि 1950 के दशक में साझा औपनिवेशीक सघर्षों के अनुभवों वाले कुछ देशों ने अपनी सापेक्षिक स्वायत्ता और मार्मिक राष्ट्रीय हित की महाशक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा हेतु गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे मंच की स्थापना किया। यह एक तरह से वैश्विक मामलों में स्वतत्रं रूप से निर्णय लेने की इच्छा थी जिसने की भारत, इण्डोनेशिया, इजिप्ट युगोस्लावियां (भूतपूर्व), चीन इत्यादि देशों को एक मंच पर ला कर खड़ा कर दिया तथा इन्ही कारणें से या आन्दोलन लगातार बढ़ता रहा। शीतयुद्ध काल में इसने दों विपक्षी महाशक्तियों के दबाव को सफलतापूर्वक झेला। जब शीत युद्ध खत्म हो गया तो आलोचको नें कहना शुरू किया कि गुटनिरपेक्षता का अब समय पूरा हो चुका है, क्योंकि शीत युद्ध काल के द्विध्रुवीय विश्व के स्थान पर अब बहुध्रुवीय व्यवस्था आ गई है। परतुं आज जो नये प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का उद्भव हो रहा है, उसमें गुटनिरपेक्षता की नीति की भूमिका और अधिक बढ़ गई है। वास्तव में आज के सन्दर्भ में विश्व, अमेरिका के एकलवादी नीतियों के वर्चस्व में है तथा सारे देशों को इन नीतियों का समना करना पड़ रहा है। अगर हम पिछले पाँच दशको के गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के इतिहास पर जाये तो हम पायेंगे कि अमेरिका ने सदैव गुटनिरपेक्षता का विरोध किया है। अमेरिका ने हमेशा गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा नव उपनिवेशवाद और नव साम्राज्यवाद के विरोध को दबाने का प्रयास किया है। जब भी गुटनिरपेक्ष आन्दोलन ने एशिया, अफ्रिका या लैटिन अमेरिका के नव स्वतंत्र राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीति स्वतंत्रता का समर्थन किया तो वह अमेरिका की सहायता से बुरी तरह से दबा दिया गया। अमेरिका का गुटनिरपेक्षता के सन्दर्भ में यह मानना था कि जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे विरूद्ध है। अमेरिका के नेतृत्व में नाटों द्वारा विश्व के कई देशों में शासन परिर्वतित कर, उसके नव उपनिवेशवाद नीतियों के समर्थन वाली कठपुतली सरकार स्थापित करना उत्तर शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के प्रासंगिकता को पुरी तरह से न्यायोचित ठहराता है। अमेरिका द्वारा युगोस्लाविया, अफगानिस्तान, इराक, लीबिया में जो एक तरफा सैन्य कार्यवाहीयाँ की गई वह अपने आप में वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की कमजोरी को दर्शाती है। अतः इस तरह के अव्यवस्था के विरोध के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे बड़े मंच की आवश्यकता और बढ़ जाती है। वर्तमान विश्व पूनः उन पुराने उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा नवउपनिवेशवादी नीतियों के प्रसार के खतरे से ग्रस्त है। अतः इन नवउपनिवेशवादी शक्तियों का प्रतिरोध गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे मंच से ही संभव है। जैसा कि हम देख सकते है कि अभी हाल में ही तेहरान में हुए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सम्मेलन का अमेरिका ने विरोध किया था। स्पष्ट है कि एक महाशक्ति के टुटने से वैश्विक समस्याओं

का अंत नहीं हो जाता। आज के नये भू-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में जहाँ विश्व, आतंकवाद, प्रजातिवाद, अविकास शस्त्र होड़, खाद्यान संकट, जलवायु परिवर्तन, विभिन्न महामहारियाँ के प्रसार इत्यादि समस्याओं से जुझ रहा है, वहाँ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे साकारात्मक उदेश्य वाले अन्तर्राष्ट्रीय मंच की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। अतः गुटनिरपेक्षता की नीति इस एक ध्रुवीय विश्व में प्रांसगिक और भविष्य में आने वाले बहुध्रुवीय विश्व में भी प्रासगिक रहेगा।

गुटनिरपेक्ष का आधारभूत सिद्धान्त- निःशस्त्रीकरण, दुसरे देशों के आन्तरिक मामलो में अहस्तक्षेप, समान आर्थिक और राजनितिक व्यवस्था की मागँ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ व्यवस्था को मजबुत बनाना इत्यादि पूरे विश्व के लोगों के जीवन को सुधारने के लिए पर्याप्त है। संयुक्त राष्ट्र के सुरक्षा परिषद में सुधार की माँग गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य रहा है। आन्दोलन द्वारा सुरक्षा परिषद के विस्तार की माँग एक तरह से सयुक्त राष्ट्र को बहुपक्षीय बनाने का प्रयास है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के 15वें सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के प्रति विश्वास को दोहराया गया। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अनेको वैश्विक सुधारों की माँग और समर्थन करता रहा है। जैसे नव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (1974), पृथ्वी सम्मेलन एजेण्डा - 21 (1992) तथा रियो घोषणा पत्र। 15 वें सम्मेलन में सर्वसमती से सभी सदस्यो ने अमिर और गरीब देशों के मध्य असमानता को कम करने की प्रतिबद्वता को दोहराया। अमेरिका के विरोध के बावजुद तेहरान में सम्पन्न हुआ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 16वाँ सम्मेलन इसके प्रांसगिकता के औचित्य को सही ठहराता है। इस सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने सुरक्षा परिषद्, विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं वैश्विक व्यापार, क्ति और निवेश में सुधार का आह्वाहन किया। उन्होंनें वैश्विक शासन व्यवस्था में सुधार की माँग किया। सिरीया में चल रहे गृह युद्ध को इंगित करते हुए उन्होंने ने यह माँग कि, यह समस्या सिरिया के लोगों द्वारा सुलझाया जाना चाहिए। सिरिया में लोकतंत्र का समर्थन, उस पर सैन्य कार्यवाही के माध्य से नहीं होनी चाहिए। शुरू से ही गुटनिरपेक्षता की नीति देशों के स्वतंत्र विदेश नीति की माँग करती रही है और कोई भी देश महाशक्तियों के हाथ में कठपुतली न बने इसका प्रयास करती रही है। आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों के सन्दर्भ में तीन प्रमुख माँग रहे है। - स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार, सामाज्यवाद एवं नव उपनिवेशवाद का विरोध तथा सभी महाशक्तियों के साथ मित्रवत संबधं। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। इसके अलाँवा आज के सन्दर्भ में इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का पुनर्गठन करना हो गया। है।

9.9 भारत की भूमिका

भारत के विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति इस एक ध्रुवीय विश्व में कहाँ तक प्रासंगिक है, प्रश्न भारतीय विदेश नीति के सन्दर्भ में 1990 के बाद सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है। आलोचको का मनना है यदि भारत केवल गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन करता रहता तो शायद अपने राष्ट्रीय हितो का सफलता पूर्वक वहन न कर पाता तथा शायद आज की तरह उभरती हुई

शक्ति के रूप मे न पहचाना जाता। भारत गुटनिरपेक्षता का संस्थापक देश था । इसने 1983 में गुटनिरपेक्षता के सम्मेलन की मेजबानी की और इसी ने सर्वप्रथम गुटनिरपेक्षता नियमों से सबसे ज्यादा दुरी भी बनाया । आलोचकों के अनुसार 1998 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने के बाद तथा उसके पश्चात भारत-अमेरिका परमाणु समझौता जैसे कदमों ने अनेंको गुटनिरपेक्ष देशों को यह सोचने पर मजबुर कर दिया कि भारत गुटनिरपेक्षता के आधारभूत सिद्वान्त से भटक गया है। और भारतीय विदेश नीति में इसकी कोई प्रासंगिक नहीं रही है। भारत-अमेरिका परमाणु समझौता का विशेषकर इरान ने विरोध किया और भारत पर आरोप लगाया कि वह अपने परम्परागत गुटनिरपेक्षता के मार्ग से भटक गया है। परन्तु ये सारे निर्णय कही से गुटनिरपेक्षता के नीति से भटकाव नहीं है। गुटनिरपेक्षता का सिद्वान्त किसी देश को उसके राष्ट्रीय हित का सवर्द्धन और इस उद्देश्य के लिए महाशक्तियों से मित्रवत सम्बन्ध बनाये रखने पर प्रतिबंध नहीं लगाती। भारत का परमाणु परीक्षण भी शांतिवाद उद्देश्य तथा प्रथम बार प्रयोग न करने के सिद्धान्त पर आधारित है। भारतीय राष्ट्रीय हित के सुरक्षा के सन्दर्भ में परमाणु परीक्षण आवश्यक था। अपनी विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता के मूल्यों के प्रति भारत का प्रबल समर्थन इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि भारत ने कभी भी अमेरिका का पिछलग्गु बनना स्वीकार नहीं किया। जब अमेरिका के तात्कालीन विदेश मंत्री ने 2007 में भारत को गुटनिरपेक्षता की नीति को छोड़ने का सलाह दिया तो भारत में इसका कड़ा विरोध हुआ। बाद में भारत में तात्कालीन अमेरिकी राजदुत डेविड सी मलफोर्ड को यह कहना पड़ा कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति का महत्वपूर्ण रूप से पालन कर रहा है। 16 वें गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का अमेरिका द्वारा किये जाने वाले विरोध के बावजूद भारत ने इसमें भाग लिया। भारत के इस सम्मेलन में भागीदारी ने भारत के गुटनिरपेक्षता के प्रति आस्था गहराई से प्रकट करता है। इस सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री के भाषण ने भारत की पश्चिम एशिया के प्रति नीति को स्पष्ट कर दिया जिसमें भारत ने अपनी पुरानी प्रतिबद्धता को दोहराते हुए इस बात पर बल दिया कि बाह्य राष्ट्रों को किसी भी देश के सम्प्रभुता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। भारत ने सिरिया और फिलिस्तीन मुद्दो के भी शांतिपूर्ण समाधान पर जोर दिया तथा यह विश्व से यह सुनिश्चित करने का आह्वान किया कि लंबे समय से कष्ट झेल रहे लोगों को राहत पहुँचना चाहिए। भारत लगातार गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को समसामायिक वैश्विक मुद्दों में सक्रिय भूमिका निभाने पर जोर दे रहा है - जैसे - वैश्विक आतंकवाद मानवाधिकार, विकास एवं नारी उन्मुक्ति,पर्यावरण संरक्षण इत्यादि।

9.10 गुटनिरपेक्ष नीति

बदलते हुए नये वैश्विक परिदृश्य के सन्दर्भ में गुटनिरपेक्ष की नीति को नया स्वरूप देना का प्रयास करते हुए कुछ विद्वान, विश्लेषको, पूर्व अधिकारियों द्वारा गुटनिरपेक्षता 2.0 नामक प्रपत्र तैयार किया गया है जो कि दिल्ली स्थित शोध संस्थान सेंटर फार पॉलिसी रिसर्च द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें लेखकों ने स्ट्रेटेजिक ऑटोनॉमी (रणनीतिक स्वायत्तता) शब्द का प्रयोग करके गुटनिरपेक्ष को

और अधिक प्रभाही बनाने का प्रयास किया गया है। इसमें भारत को उभरती अर्थव्यवस्थाओं के साथ सबधं सुधारने का नीतिगत सुझाव दिया गया है। इसमें यह सुझाव दिया गया है कि भारत चीन से लगे अपने उत्तरी सीमाओं पर दृढ़ता का रूख अपनाये। इसमें देश के अन्दर शासन के कमियों की तरफ भी ध्यान दिलाया गया है। इस प्रपत्र में यह ध्यान दिलाया गया है कि विश्व आज जिन समस्याओं का सामना कर रहा है उससे निपटने के लिए भारत को अपनी नेतृत्व क्षमता दिखानी चाहिए। इस रिर्पोट का शिर्षक महत्वपूर्ण रूप से इस बात को इंगित कर रहा है कि गुटनिरपेक्षता भारतीय कुट नीति का एक गम्भीर एवं खास हिस्सा अभी भी है।

संक्षेप में हम यह कह सकते है कि भारत के विदेश नीति के आधार के रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति अब भी प्रासंगिक है। भारत के सुरक्षा परिषद् के सदस्य बनने का लक्ष्य बिना गुटनिरपेक्ष आन्दोलन जैसे बड़े मंच के सहायता के संभव नहीं हैं साथ ही भारत को पाँच महाशक्तियों के साथ भी सबधं अच्छे बनाकर रखने होगें। भारत का गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास भी करना चाहिए। इसके लिए वह गुटनिरपेक्षता की नीति के लिए नया रोडमैप बना सकता है। साथ ही सदस्यों देशों के आन्तरिक मतभेदों को दुर करने के प्रयास भी कर सकता है। भारत को सदस्यों देशों का वैश्विक शासन से जुड़े हुए मुद्दों तथा मतभेदों को दुर करने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही भारत को गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के गरीबी उन्मुलन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, आपदा प्रबंधन जैसे प्रोजेक्टों को आर्थिक मद्द भी मुहैया करानी चाहिए । भारत इतना सशक्त है कि वह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को और अधिक प्रभावी बना सके। यह भारत के राष्ट्रीय हित के अभिवृद्वि में सहायक भी होगा।

अभ्यास प्रश्न

(1) पंचशील समझौता किन देशो के बीच हुआ था

A भारत और म्यांमार .**B** भारत .और पाकिस्तान **C** भारत और चीन .**D**भारत और नेपाल .

(2) पहला गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन किस शहर में आयोजित किया गया था-

A हवाना.**B** जकार्ता.**C** बेलग्रेड.**D**नई दिल्ली.

(3) पहला गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन कब आयोजित किया गया था

A 1961.**B** 1964.**C** 1970.**D**1973.

9.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम लोगो ने गुटनिरपेक्षता की नीति की अवधारणाए इसके एक आंदोलन के रूप मे जन्म के कारण तथा इसके विकास के विभिन्न चरणो का अध्ययन किया साथ ही हमने भारत के विदेश नीति के एक आवश्यक पहलू के रूप मे इस अवधारणा का विश्लेषण भी किया स

गुटनिरपेक्ष आंदोलन दो वैश्विक घटनाक्रम के संदर्भ में उभरा था. पहला तीसरीदुनियाँके देशो का उपनिवेशवादी शासन से मुक्त होना और विश्व के दो माहाशक्तियों के अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का होना स इसी संदर्भ मे गुटनिरपेक्षता का अर्थ एवं उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है क्योकि गुटनिरपेक्षता की नीति शीत युद्ध और उससे उपजे गुटो की राजनीति से दूर रहते हुए अपनी विदेश नीति का स्वतन्त्र रूप से पालन करने के नजरिए को दर्शाता है। दूसरे शब्दो मे गुटनिरपेक्षता का जन्म विशिष्ट राजनीतिक आर्थिक सामरिक तथा स्थानीय प्रस्थित्यों के संदर्भ मे हुआ था। गुटनिरपेक्षता की नीति ने अपने शुरवाती दौर मे अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई विशेषकर संयुक्त राष्ट्र संघ मे। आगे चलकर शीतयुद्ध के समाप्ति और एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था के कारण आलोचको ने इसे अप्रासंगिक बताना शुरू कर दिया स परंतु यह विचार उचित नहीं है क्योकि निःसन्देह शीतयुद्ध का संदर्भ परिवर्तित हो गया है लेकिन आज भी विश्व गरीब और अमीर दो भागो मे विभाजित है स ऐसे अनेकों कारण आज भी विद्यमान है जिनके लिए गुटनिरपेक्षता की नीति का पालन अपरिहार्य है। उदाहरणस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ का लोकतांत्रिकरण वैश्विक आतंकवाद मानवाधिकार विकास एवंम नारी उन्मुक्तिए पर्यावरण संरक्षण इत्यादि स और इसी कारण भारत आज भी इस आंदोलन का प्रबल समर्थन कर रहा है स आवश्यकता इस बात की है इस आंदोलन को बदलते वैश्विक संदर्भ पुनः परिभाषित की जाय ताकि वैश्विक न्याय के इसके लक्ष्य को साकार किया जा सके |

9.12 शब्दावली

प्रस्तावना- परिचय,भूमिका इत्यादि

सामरिक- युद्ध.नीति.विषयक रणनीति.संबंधी

उपनिवेशवाद- इसका अभिप्राय उस स्थिति से हैं जिसमें कोई राष्ट्र अपनी राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति का विस्तार अन्य राष्ट्रों पर कर नियंत्रण स्थापित कर वहां के संसाधनों का अपने हित में शोषण करता है

तटस्थ- उदासीन

9.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. Arun Mohanty (2012), "Nam's Relevance in the Emerging Multipolar World and India", *Mainstream*, 50(37).

2.J.Bandyopadhyaya (2003), *The Making of India's Foreign Policy-Determinants, Institutions, Processes and Personalities*, New Delhi: Allied Publishers Pvt. Limited.

3.Muhammad Badiul Alam (Fall 1977),"The Concept of Non - Alignment: A Critical Analysis", *World Affairs*, 140(2): 166-185

4.Palmer and Parkins (2005), *International Relations-The World Community in Transition*, New Delhi: A.I.T.B.S. Publishers and Distributers.

5. Rao, P.V. Narasimha (2009), "Nehru and Non-alignment", *Mainstream*, 47(24).

9.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.Dixit, J. N.(200),*India's Foreign Policy*, New Delhi: Picus Books

2.Rajan, M.S.(1990), *Non-alignment and Non-aligned Movement: Retrospect and Prospect*, New Delhi : Vikas Publishing House Pvt Ltd.

3.Appadorai, A., M.S. Rajan (1985), *India's Foreign Policy and Relations*, New Delhi: South Asian Publishers.

9.16 निबंधात्मक प्रश्न

1.भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति का आलोचनात्मक समीक्षा करें।

2.शीत युद्ध के पश्चात भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रासंगिकता का परीक्षण करें।

इकाई 10 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका

इकाई की रुपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ

10.4 व्यक्तिगत और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में अन्तर

10.5 क्या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व है

10.6 अभ्यास प्रश्न - 1

10.7 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे मान्यताएं

10.8 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की भावना के क्षीणता के कारण

10.9 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मूल्यांकन

10.10 अभ्यास प्रश्न - 2

10.11सारांश

10.12 शब्दावली

10.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.15 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

किसी भी सभ्य समाज को नियन्त्रित एवं अनुशासित रखने के लिए नैतिक नियमों एवं कानूनों का होना आवश्यक है। कानूनों के पीछे जहां राज्य की बाध्यकारी शक्ति होती है वही नैतिक नियमों के पीछे सामाजिक स्वीकृति का बल होता है। प्रत्येक सभ्य समाज की कुछ नैतिक मान्यताएं होती है जो समाज में व्यवस्था का आधार होती हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तब्य होता है कि वह दूसरे के अधिकारों का सम्मान करे और इस तरह सभी की स्वतन्त्रता को कायम रखा जा सके। नैतिकता की आवश्यकता न सिर्फ राष्ट्रीय समाज के लोगों को होती है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज या राष्ट्रों के मध्य शान्ति पूर्ण सम्बन्धों के संचालन के लिए भी नैतिक मानदण्डों का होना आवश्यक माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राज्यों का व्यवहार भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता द्वारा नियमित होता है। ये दोनों तत्व प्रत्येक राज्य की राष्ट्रीय शक्ति पर महत्वपूर्ण तथा मूल्यवान सीमाएं बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे राष्ट्रीय कानून की भांति शक्ति का समर्थन नहीं होता है। इसलिए इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के काफी करीब माना जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराएं, राज्यों के व्यवहार के सामान्य सिद्धान्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के ही भाग होते है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यवस्था कायम करने का भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। सामान्य स्थिति में कोई भी सम्प्रभु राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकता है।

10.2उद्देश्य

इस इकाई में हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका की चर्चा करेगें। नैतिक मानदण्ड क्या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण या व्यवस्था कायम करने में सहयोग करते है? अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सम्प्रभु राज्य अपनी विदेश का निर्धारण करते समय नैतिक मानदण्डों को कितना महत्व देते है ? यदि राज्य नैतिकता के मानदण्डों का उल्लंघन करता है तो उसके प्रति अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं या दूसरे राज्यों का व्यवहार कैसा होगा ? क्या उनका तिरस्कारदुनियाँके अन्य राज्य कर सकेगें ? इस इकाई के अध्ययनोंपरान्त आप -

1. यह समझ सकेगें कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता क्या है?
2. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्ड क्या है?
3. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता राज्यों की शक्ति को किस हद तक सीमित एवं नियन्त्रित करती है?
4. क्या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता विश्व शान्ति एवं सुरक्षा में सहायक हो सकती है?
5. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में इसकी भूमिका क्या है?

10.3 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ समझने से पहले यह आवश्यक है कि हम नैतिकता का अर्थ जाने। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता अस्पष्ट एवं अनिष्चित होती है। इसलिए इसका अर्थ अलग-अलग व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होता हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि नैतिकता का आषय औचित्यपूर्ण और वांछनीय आचरण से है। नैतिकता क्या है इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि जो अपरिहार्य है उसे स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके अलावा नैतिकता को मन अथवा अन्तरात्मा का आदेश कहा जाता है। इसलिए व्यक्ति नैतिकता के नियमों का पालन अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से करता है। नैतिकता का अर्थ समय-समय पर अलग-अलग लगाया जाता है क्योंकि प्रत्येक राज्य अपने व्यवहार को नैतिक सिद्ध करने की कोषिष करता है। 'शक्ति ही औचित्य है' वाली कहावत के अनुसार विजय एवं सफलता प्रत्येक राष्ट्र के किसी व्यवहार को नैतिक बना देती हैं। ष्लीचर का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को समझने के लिए नैतिक शब्द के अर्थ का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए। यह सभी मानते हैं कि नैतिकता सही व्यवहार हैं परन्तु सही व्यवहार क्या हैं यह स्पष्ट नहीं है। क्योंकि सही व्यवहार का अर्थ तथा विषय राष्ट्र से राष्ट्र तक तथा समय-समय पर भिन्न-भिन्न होता है। एक व्यापक उत्तर जो सार्वभौमिक पूर्णतावादी तथा नैतिकता के निरपेक्ष विचार मेविश्वासरखने वाले नैतिकतावादी देते हैं वह यह है कि सही व्यवहार एक एकल या सार्वभौमिक नैतिक स्तर है जो सच्चाई को उचित और न्याय को मूर्तरूप देता है तथा नैतिक कार्य इसके स्तर के अनुरूप होते है। इसके विपरीत सापेक्षवाद के समर्थक दोहरे स्तर तथा अपूर्णतावादी विचारधारा वाले कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता कोई सर्वमान्य, निरपेक्ष तथा पूर्ण विचार न तो है और नहीं कभी हो सकता है। उनका विचार है कि उचित-अनुचित के स्तर राष्ट्र से राष्ट्र तक तथा समय-समय पर भिन्न-भिन्न होगें क्योंकि उनके ऐतिहासिक अनुभव एव सस्कृतियां भिन्न हैं। नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध मे ये दोनो ही विचार निःसन्देह अतिवादी हैं। बहुत से ऐसे नैतिक विचार हैं जो प्रायः सभी सभ्य राष्ट्रों द्वारा अच्छे या उचित माने जाते हैं दूसरी तरफ बहुत से ऐसे विचार भी हैं जिन्हे कुछ राज्यो का पूर्ण रूप से तथा कुछ राज्यों का आंशिक रूप से समर्थन प्राप्त होता है परन्तु बहुत से दूसरे राज्यों का बिलकुल समर्थन प्राप्त नहीं होता है। इसी तरह की परिस्थितियो के कारण बहुत से विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को एक मान्य नैतिक आचार संहिता का रूप देने के लिए बाध्य हो गये हैं। जिसका प्रयोग प्रायः राष्ट्रों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अर्थ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों एवं मूल्यों से होता है जिनका प्रयोग राज्यों द्वारा आपसी सम्बन्धो के संचालन मे किया जाना आवश्यक होता है। ये मानदण्ड और मूल्य राज्यों की इच्छाएं भी हो सकती हैं और रूढ़िया भी। नैतिक मान्यताएं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आदर्शवादी प्रवृत्ति से जुडी होती है परन्तु कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित और अस्तित्व की कीमत पर इन्हें स्वीकार नहीं करेगा। अतः कहा जा सकता है कि साधन तथा

साध्यो से सम्बन्धित साझे मूल्य जिनका प्रयोग प्रायः सभी राष्ट्र आपसी सम्बन्धो के संचालन मे करते है अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता है।

10.4 व्यक्तिगत और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में अन्तर

व्यक्तिगत नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता मे प्रायः अन्तर देखने को मिलता है। जो मान्यताएं व्यक्तिगत नैतिकता के लिए आवश्यक हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का भी अंग माना जाय यह आवश्यक नहीं है। उदाहरणस्वरूप व्यक्तिगत जीवन में बृद्ध एवं अक्षम माता-पिता की सेवा करना सन्तान का नैतिक कर्तव्य माना जाता है जबकि साम्यवादी सोवियत संघ में ऐसे लोगों को भूखों मरने के लिए लाचार छोड़ देने की व्यवस्था प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत मान्यताएं लम्बे समय से समाज में चली आ रही होती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है।

व्यतिगत नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध में दो तरह का दृष्टिकोण देखने को मिलता है। काण्ट, जेफरसन और हॉल विल्सन जैसे विचारक जहां एक ओर यह मानते हैं कि व्यक्तिगत नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्ड एक समान हैं। तो वही दूसरी ओर अनेक ऐसे विद्वान हैं जिनका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। मैकियावली का स्पष्ट मानना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचालन शक्ति के सन्दर्भ में होता है। नैतिकता का मानदण्ड व्यक्ति के लिए होता है राज्य के लिए नहीं। इस सम्बन्ध में तो उसने यहां तक कह डाला कि राजा को धर्म और नैतिकता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, राजा यदि अपने उद्देश्य को प्राप्त करने मे सफल रहता हैं तो उसे प्राप्त के साधन तो सदैव पवित्र समझे जायेगे। इसलिए राजा को नैतिकता की चिन्ता किए बिना अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे हॉब्स का मत था कि राज्य की सीमा के बाहर न तो नैतिकता का अस्तिव्त है और नहीं कानून का। मार्गेन्थाऊ अपने यथार्थवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मानता है कि राजनीतिक यथार्थवाद नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं है लेकिन फिर भी उसे राज्य के क्रियाकलापों पर सार्वभौम अवधारणाओं के रुप में लागू नहीं किया जा सकता है। उन्हें समय, स्थान और परिस्थितियों की कसौटी पर कसा जाना चाहिए और समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार उनमें आवश्यक सशोधन कर लेना चाहिए। यथार्थवाद की मान्यता है कि राष्ट्रों द्वारा नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक और सम्भावित परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए। बिना विवेक के राजनीतिक नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है।

व्यक्तिगत जीवन में अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नैतिकता के मानदण्डों का अवलम्बन करना आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता है तो समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। सामाजिक भय लोगों को न सिर्फ नैतिकता के लिए प्रेरित करता है बल्कि लोगों को इस हेतु बाध्य

करता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों का प्रधान लक्ष्य अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा करना होता है और यह तभी सम्भव होगा जब राज्य के पास अधिकाधिक शक्ति हो। मार्गेन्थाऊ ने लिखा है ''अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।'' इसलिए राज्य शक्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार के अच्छे-बुरे साधनों को अपनाते है। इस सम्बन्ध में प्राचीनकाल से दो तरह की विचारधाराएं प्रचलित है। पहली विचारधारा इस बात पर बल देती है कि राज्य को सदैव अच्छे, नैतिकता के दृष्टि से उचित तथा वैध साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए जबकि दूसरी विचारधारा यह मानती है कि ''युद्ध और प्रेम में सब कुछ जायज है''अर्थात प्रेम और युद्ध में अनुचित, अवैध और बुरे साधनों का प्रयोग करने में भी कोई संकोच नहीं करना चाहिए। प्राचीन भारत में इसी आधार पर युद्धों के दो भेद किये जाते थे- धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध। धर्मयुद्ध में नैतिक नियमों का पूरा पालन किया जाता था जबकि कूटयुद्ध में सब प्रकार के धोखाधड़ी और छल-कपट की अनुमति होती थी अर्थात नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं था।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि व्यक्तिगत नैतिकता के मानदण्डों का पालन किया जाना आवश्यक होता है क्योंकि ये नियम समाज में व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित करने के लिए बनाये जाते है। कई बार इसका पालन कानूनी नियमों की अपेक्षा अधिक दृढ़ता के साथ किया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन नियमों का पालन कराने के लिए बाध्य करने वाली शक्ति या अनुज्ञप्ति मनुष्य का अन्तःकरण होता हैं। जब कभी मनुष्य को यह भान हो जाय कि उसने कोई अनैतिक कार्य किया है तो उसका अन्तरमन उसे धिक्कारने लगता है। फलतः वह भविष्य में ऐसा कोई कार्य नहीं करता है जबकि इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय समाज में व्यवस्था बनाने के लिये नैतिक मान्यताओं का अभाव है। कुछ मान्यताएं है- जैसे अपने वायदों को पूरा करना चाहिए, दूसरे के शब्दों में विश्वास करना चाहिए, न्यायपूर्ण कार्य करना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करना चाहिए, अल्पसंख्यको की रक्षा करनी चाहिए और देशीय नीति के साधन के रुप में युद्ध का बहिष्कार करना चाहिए तो इनका पालन राष्ट्रों के द्वारा अपनी सुविधा के हिसाब से किया जाता हैं। अगर कोई राज्य इन मानदण्डों का उल्लंघन करता है तो न तो उसका अन्तरमन अर्थात देशीय जनमत और नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कोई बाध्यकारी शक्ति उसे ऐसा करने के लिये बाध्य करती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हितलर ने खुलकर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों का माखौल उडा़या और जर्मनी के लोग उसको बाध्य करने के बजाय उसका निष्ठापूर्वक साथ दे रहे थे। यद्यपि विदेश नीति के सिद्धान्त और उद्देश्यों की घोषणाओं में न्याय, शान्ति, औचित्य जैसे नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख अवश्य होता है परन्तु जब विदेश नीति के क्रियान्वयन का अवसर आता है तो इन नैतिक नियमों को भुला दिया जाता है।

10.5 क्या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व है

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय शक्ति की सीमा के रुप में जिस नैतिकता की अवधारणा का अध्ययन किया जाता है, व्यावहारिक धरातल पर उसका अस्तित्व है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध मे प्रमुख रुप से निम्नलिखित धारणाएं प्रचलित है-

1. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व नहीं है- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता के अस्तित्व से इन्कार करते है। उनका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अच्छे-बुरे के सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य, पूर्ण तथा निरपेक्ष मानदण्ड प्रचलित नहीं है। ष्लीचर लिखते है ''यथार्थवादियों-प्राचीन भारत में कौटिल्य के दिनों से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दीं मे इटली के मैकियावेली तथा बाद में मैकपोलिटक के समर्थकों तक राष्ट्रों के मध्य किसी नैतिक संहिता से इन्कार किया गया है।''

2. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मानदण्डों के रूप में व्यक्तिगत संहिता- बहुत से विद्वान इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व नहीं है। उनका तर्क है कि यह भले ही कमजोर क्यों न हो परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की एक नैतिक संहिता अवश्यहै। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि जो नैतिक मानदण्ड व्यक्तियों के व्यक्तिगत व्यवहार में उनका पथ प्रदर्षन करते हैं वही उन शक्ति गुटों के बीच व्यवहार में भी लागू होते हैं जो राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों तथा उन पर निर्भर लोगों के व्यवहार में शामिल होते हैं।

3. नैतिकता के दोहरे मानदण्ड- अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता के अस्तित्व के विचार को कुछ विद्वान इस आधार पर भी चुनौती देते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता के अस्तित्व को मानते समय इस बात से इंकार करते हैं कि यह व्यक्तियों के किसी समूह की या राज्य की नैतिक संहिता जैसी ही है। ऐसा मानने वाले प्रायः यह तर्क देते हैं कि अन्तःग्रुप मानदण्ड, अन्तः व्यक्तिगत मानदण्डों से भिन्न होते हैं तथा यह कि पहले वालों की मांग अपेक्षाकृत कम है। नैतिकता के सम्बन्ध में पाया जाने वाला यह दोहरा मानदण्ड भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता की धारणा के अस्तित्व को न मानने के लिये प्रेरित व बाध्य करता है।

उर्पयुक्त विचारों का विश्लेषण करते हुए श्लीचर ने लिखा है कि ''समूह तथा विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मानदण्डो को भिन्न मानते हुए तथा व्यक्तिगत व्यवहार पर लागू होने वाले मानदण्डों की तुलना करते हुए तथा इसके अतिरिक्त आदर्श संहिता के 'सुनहरे नियम' से अलग होते हुए यह माना जाता है कि निःसन्देह इसका अस्तित्व है। एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व अवश्य है चाहे विभिन्न समाजों में सामाजिक नैतिक संहिताओं की तरह सम्पूर्ण नहीं है।''

मार्गेन्थाऊ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाणों का उदाहरण देते है- (i) शान्ति काल मे मानव जीवन की सुरक्षा (ii) युद्ध काल मे मानव (विशेषतया जो युद्ध मे हिस्सा नहीं लेते) की सुरक्षा और (iii) युद्ध की नैतिक निन्दा

1.शान्ति काल में मानव जीवन की सुरक्षा- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ऐसी प्रक्रिया के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जिसमें राष्ट्र सदैव अपनेदेशकी शक्ति को बढ़ाने तथा बनाये रखने के लिए और दूसरे की शक्ति पर नियन्त्रण कर उसकी शक्ति को निरन्तर कम करनें का प्रयास करते रहते हैं। पहले तो राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई भी साधन प्रयुक्त कर सकते थे। यहां तक कि वे चुने हुए लोगों का या सामूहिक नरसंहार को भी साधन के रूप में प्रयोग कर सकते थे। इतिहास में ऐसे अनेक बुरे समय के उदाहरण देखनें को मिलते हैं जब राजनीति में मनुष्य की हत्या को बुरा नहीं समझा जाता था। इस विषय में वेनिस के गणराज्य का उदाहरण उल्लेखनीय है। जिसके सरकारी अभिलेखो के अनुसार 1435 से 1525 के नौ दषको में अपनें विदेश नीति को सफल बनाने के लिए दो सौ व्यक्तियों के हत्या करने की योजनाएं बनायी या ऐसे प्रयास किये। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हितलर और मुसोलनी ने भी इसको साधन के रूप में प्रयुक्त किया परन्तु आज मानवीय जीवन को सभी देशों में अति पवित्र समझा जाता है। हत्या कों एक जघन्य पाप और भीषण राजकीय अपराध माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी राजनीतिक लक्ष्यों के प्राप्ति हेतु अमानुषिक कार्यो को अनुचित समझा जाता है। इसलिए सत्ता की होड़ में लगे हुए राष्ट्र भी नैतिकता के सीमाओ में आबद्ध हो गऐ हैं और आज सभी सरकारो का यह कर्तव्य माना जाने लगा हैं कि वे न केवल विषिष्ट व्यक्तियों वरन् सभी नागरिकों की सुरक्षा सुनिष्चित करें। अब अनैतिक साधनो के विरूद्ध नैतिक सीमाएं मजबूत अवरोधक हैं। मानव जीवन के लिए सम्मान आज हमारे समय की अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का पवित्र सिद्धान्त बन गया है। इसका एक सुन्दर उदाहरण ब्रिटिष प्रधानमन्त्री चर्चिल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' द्वितीय विश्व युद्ध का इतिहास' में दिया है। उन्होंने लिखा है कि इस युद्ध काल में हुए तेहरान के षिखर सम्मेलन में रूस के राष्ट्रपति स्टॉलिन ने युद्ध के बाद जर्मन लोंगों को दिए जाने वाले दण्ड का प्रश्न उठाया और यह प्रस्ताव रखा कि जर्मन सेना के जनरल स्टाफ को गोली से उड़ा दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार हितलर की शक्तिशाली सेना के आधार लगभग पॅचास हजार अफसर व तकनीकी व्यक्ति थे। यदि युद्ध के समाप्ति के बाद उन्हे एकत्र करके गोली से उड़ा दिया जाय तो जर्मनी की सैनिक शक्ति का सदा के लिए उन्मूलन हो जायगा। इस पर चर्चिल ने कहा कि ''ब्रिटिष संसद और जनता इस प्रकार की सामूहिक हत्याओ को कभी सहन नहीं करेगी। यदि युद्ध के उन्माद मे ब्रिटिष लोगो ने कभी इस बात की अनुमति दे भी दी तो इस प्रकार का पहला हत्याकाण्ड हो जाने को बाद जनता इसके लिए उत्तरदायी लोंगों के विरूद्ध भड़क उठेगी। किन्तु उसके बाद भी स्टॉलिन ने जब दोबारा इस विषय की चर्चा करते हुए कहा ''पॅचास हजार को गोली से अवश्यभून देना चाहिए।'' तो चर्चिल ने क्रोधावेष में कहा ''इससे अच्छी बात मै यह पसन्द करूगा कि मुझे अभी और यही बाहर बगीचे में ले जाकर गोली से उड़ा दिया जाय। मै यह नहीं चाहता हूं कि मेरी और मेरेदेशकी प्रतिष्ठा इस प्रकार के कुकृत्य से कलंकित हो।'' चर्चिल के उत्तर से स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक पश्चिमी जगत का जनमानस शान्तिकाल में शत्रु पक्ष की सामूहिक हत्याओं के विरोध में कितना जागृत हो चुका था और इन्हें नैतिक दृष्टि से कितना निन्दनीय समझने लगा था।

मार्गेन्थाऊ ने ठीक ही कहा हैं कि ''वह विदेश नीति जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जनसंहार को प्रोत्साहित नहीं करती, राजनीतिक समयानुकुलता के कारण इस सीमा को अपने ऊपर नहीं थोपती है। इसके विपरीत इसका लाभ पूर्ण तथा प्रभावशाली कार्य सिद्धि में होता है। इस सीमा का उद्गम निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त में निहित है और इसका पालन इसके राष्ट्रीय हितों के विपरीत होते हुए भी किया जाना अनिवार्य है। ऐसी विदेश नीति उस समय राष्ट्रीय हितो का भी त्याग कर देती है, जब राष्ट्रीय हितों के लिए नैतिक सिद्धान्त का उल्लंघन जैसे कि शान्ति काल में जनसमूह की हत्या का निषेध आवश्यक हो जाता है।'' मार्गेन्थाऊ आगे कहता है कि यातनाएं और हत्याएं न करने के कर्तव्य पालन के कारण ही पृथ्वी पर मानव जीवन विकसित हो सका है। विकास का लक्ष्य किसी ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हो, जिसके लिए यातना अथवा नरसंहार आवश्यक नहीं है और इस ऊँचे लक्ष्य के अन्तर्गत देशीय हित पूर्ण सम्भव है।

वर्तमान समय में शान्तिकालीन परिस्थितियों में मानव जीवन की रक्षा के नैतिक दायित्व का बहुत कुछ निर्वाह किया जा सकता है। आज एक निरंकुश शासन के लिए भी यह कठिन है कि वह जनता की आवश्यक सुरक्षा की व्यवस्था न करें।

2. युद्धकाल में मानव जीवन की सुरक्षा- अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का यह तकाजा है कि न केवल शान्ति काल में बल्कि युद्ध काल में भी सामान्य मानव के जीवन को सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। मध्य यूरोप में हुए तीस वर्षीय-युद्ध (1618-1648 ई. तक) के बाद यह विचार प्रबल होने लगा कि लड़ाई दो देशों के समूची जनता के बीच होने वाला संघर्ष नहीं है अपितु यह केवल योद्धा राज्यों की सेनाओं में होने वाला संघर्ष है। इस विचार के उत्पन्न होने पर लड़ने वाले सैनिकों तथा न लड़ने वाली या असैनिक जनता में भेद किया जाने लगा। चूंकि असैनिक अर्थात् सामान्य जनता युद्ध में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेती है। अतः उसको सषस्त्र सैनिकों द्वारा लक्ष्य नहीं बनाया जाना चाहिए। लड़ाई में सैनिकों का एक मात्र उद्देश्य शत्रु के सैनिकों को नष्ट करना होना चाहिए। शनैः-षनैः यह विचार जोर पकडने लगा कि सामान्य जनता पर हमला कर उन्हें धायल करने तथा उनकी हत्या करनें का कार्य नहीं किया जाना चाहिए। इसी मानवतावादी उद्देश्य नें अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों का विकास किया है जिनका अनुकरण कर युद्ध में जनसाधारण के विनाष को टाला जाता है। इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि समय-समय पर सामान्य जनता के जीवन को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए युद्ध सम्बन्धी विभिन्न घोषणाएं की गयी हैं। 1856 की पेरिस घोषणा ने समुद्री और समुद्र तटीय युद्ध को सीमित कर दिया। 1869 की सेंट -पीट्सवर्ग घोषणा ने ऐसे हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहरा दिया था जिनसे आवश्यक रूप से अपंग और असमर्थ व्यक्तियों के कष्ट बढ़े। 1899 की हेग घोषणा में उन दमदम कारतूसों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया था जो मानव शरीर में प्रवेश करके फैल जाते थे। 1907 के हेग कन्वेंषन में विषाक्त हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया था। इस कन्वेंषन में विरोधी राष्ट्रों के व्यक्तियों को धोखाधड़ी और क्रुरता से घायल

करना निषिद्ध ठहराया गया था। युद्धबन्दियो के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के दृष्टि से अनेक प्रयत्न किये गये हैं। 1864, 1906, 1921 तथा 1949 के जेनेवा सम्मेलनों द्वारा उन नैतिक परम्पराओं को वैधानिक रूप दिया गया जिसमें युद्ध का मानवीकरण हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास इन नैतिक धाराणाओं का प्रतीक तथा उत्कृष्ठ संस्था है। युद्धों के मानवीकरण के प्रयत्नों की जड़ में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता ही है।

3. युद्ध की नैतिक निन्दा- इतिहास के प्रारम्भ से लेकर आज तक स्वयं राजनेताओं ने युद्ध के विध्वंष की निन्दा की है। पिछली आधी शताब्दी से अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में युद्ध विरोधी भावना और अधिक प्रबल हुई है। परिणामस्वरूप अधिकांषदेशोंके नीति निर्माता इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि सामान्य रूप से राष्ट्रीय हितों की वृद्धि और विदेश नीति को सफल बनाने के लिए युद्ध के साधनों का सहारा नहीं लिया जाना चाहिए, क्योंकि युद्ध बड़े पैमाने पर विनाष का कारण बनता है। मानव जीवन को अपार क्षति पहुंचाने वाले युद्धों का सहारा केवल आत्मरक्षार्थ ही लिया जाना चाहिए। 1899 तथा 1907 के दो हेग शान्ति सम्मेलनों में, 1919 में स्थापित राष्ट्रसंघ में, 1928 के कैलोग ब्रायड समझौते में आक्रामक युद्ध को अवैध घोषित किया गया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ भी युद्ध के त्याग को अन्तिम उद्देश्य माना। इन सबके तथा दूसरे वैध उपकरणों या संगठनों के आधार में केवल औचित्य के कारण न सिर्फ भयानक ढंग के उपेक्षा की बात कही गयी है बल्कि नैतिक आधार पर इसे बुरी चीज मानते हुए उससे बचने की भी बात कही गयी है। इस प्रकार युद्ध की निन्दा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया है। इसलिए कोई भीदेशया निर्णयकर्ता युद्ध छेड़ने के उत्तरदायित्व का कलंक अपने या अपने राष्ट्र के माथे पर नहीं लगाने देना चाहता है। इससे स्पष्ट रूप से यह परिलक्षित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

वी.वी. डाइक ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि ''नैतिकता के मतभेदों से भरी अवधारणाओं के अस्तित्व का यह अर्थ नहीं है कि नैतिकता पूर्णतया राष्ट्रीय है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अस्तित्व वैसे ही है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का। इसमें नैतिक सिद्धान्त शामिल होते हैं जिन्हें बहुत से राज्यों का समर्थन प्राप्त होता है। प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक प्रमुख स्रोत तथा आधार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की बहुत से धाराओं में भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का उल्लेख है। उदाहरण के लिए जाति, लिंग, भाषा तथा क्षेत्र के भेदभाव के बिना मानवीय अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान का आह्वान आदि। शान्ति की नैतिक इच्छा को औपचारिक रूप से सार्वभौमिक समर्थन प्राप्त है, चाहे इसके लिए कुछ धाराएँ तथा शर्ते लग गयी है। आज युद्ध को अनैतिक माना जाता है और यदि कभी युद्ध करना भी हो तो राष्ट्रों द्वारा युद्ध करने की सीमाओं को माना जाता है तथा उनका पालन भी किया जाता है।''

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण तत्व बन गयी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने का कार्य करने लगी है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानव कल्याण को प्रोत्साहित करने का एक सषक्त साधन हो गयी है। अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता ने अपने अस्तित्व को न सिर्फ स्थापित किया है बल्कि दुनियाँ के राष्ट्रों को यह सोचने के लिए मजबूर भी किया है कि वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में उसकी उपेक्षा मानवता के लिए शुभ सिद्ध नहीं होगी।

अभ्यास प्रश्न 1

1. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने का एक महत्वपूर्ण तत्व है?सत्य है/असत्य है

2. क्या नैतिकता का आषय औचित्यपूर्ण और वांछनीय आचरण से है?हां/नहीं

3. धर्मयुद्ध बल देता है-

(i) नैतिक साधनों के प्रयोग पर (ii) अनैतिक साधनों के प्रयोग पर

(iii) नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार के साधनों के प्रयोग पर (iv) इनमें से किसी पर नहीं

4. मध्य यूरोप में तीस-वर्षीय युद्ध कब से कब तक हुआ था ?

10.7 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे मान्यताएं

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे अनेक प्रकार की मान्यताएं है। जिनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. घरेलू जनमत- विदेश नीति के निर्माता अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमों का पालन करते है क्योंकि इसके पीछे उनके राष्ट्र का जनमत होता है। सामान्य रूप से प्रत्येक राष्ट्र के लोग यह मानते है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में ऐसा कोई भी कार्य किसी राष्ट्र द्वारा नहीं किया जाना चाहिए जो नैतिक मानदण्डों के अनुरूप नहीं है। वर्तमान समय में किसीदेशके शासन व्यवस्था का स्वरूप चाहे लोकतन्त्र, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या अधिनायकतन्त्र कुछ भी हो वह जनमत के विरुद्ध निर्णय लेने का साहस नहीं कर सकता। स्थायी तथा शान्तिपूर्ण विश्व व्यवस्था स्थापित करने के लिए कार्य करने के उद्देश्य के पीछे भी घरेलू जनमत तथा आत्मा की शक्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि घरेलू जनमत राष्ट्रों के नैतिक कार्यो की सीमा रेखा बन गया है जिसके पार जाने की हिम्मत कोई राष्ट्र नहीं कर सकता है।

2. विश्व जनमत- राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में विश्व जनमत की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। इसलिए राष्ट्र सदैव ऐसे कार्य करने का प्रयत्न करते है जिससे विश्व जनमत उनके अनुकुल रहे। माना जाता है कि राष्ट्रों के कार्यो के पीछे विश्व जनमत का समर्थन जितना अधिक होता है राष्ट्र को शक्ति की आवश्यकता उतनी ही कम होती है। प्रत्येक राष्ट्र मानव जाति के विचारों के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाने का प्रयत्न करता है। इसलिए सदैव ही अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के नियमों को मानता है तथा उसका पालन करता है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे विश्व जनमत का समर्थन आवश्यक होने के कारण ही प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्यों के औचित्य को विश्व जनमत के समक्ष रखने का प्रयास करता है। इसके लिए राष्ट्र प्रचार के साधनों का सहारा भी लेता हैं। शीत युद्ध के दौरान सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनो अपने-अपने कार्यो के नैतिक तथा दूसरे के कार्यों को अनैतिक बताकर विश्व जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयास करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्तों का पालन राष्ट्र इसलिए करते हैं ताकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व जनमत उनके अनुकुल बना रहे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे विश्व जनमत एक प्रमुख अनुमोदक होता है।

3. निर्णयकर्ता की अन्तरात्मा- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण हेतु निर्णय लेने का काम कोई न कोई मनुष्य ही करता है। प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा उसे नैतिक कार्यों को करने के लिए प्रेरित करती है। इसलिए राजनीति में व्यक्तियों या राष्ट्रों के द्वारा लिए जाने वाले निर्णय के लिए कभी-कभी आत्मा की आवाज के आधार पर निर्णय लेने की दुहाई दी जाती है। कई बार अन्तरात्मा की आवाज पर भी राष्ट्र का नीति निर्धारण करने वाला व्यक्ति अनैतिक कार्य नहीं करता है। इस प्रकार निर्णयकर्ता की अन्तरात्मा भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्तों के पालन का एक प्रमुख तत्व है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय विधि- अनेक विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय कानून को 'भावात्मक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता' ही मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे उस तरह की बाध्यकारी शक्ति नहीं होती है जैसी कि राष्ट्रीय कानूनों के पीछे होती है फिर भी राष्ट्रों के द्वारा आपसी सम्बन्धों के संचालन में इनका पालन प्रायः इसलिए किया जाता है क्योंकि ये नैतिकता पर आधारित होते है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अनेक नियम जैसे शान्तिकाल में जनसाधारण की हत्या नहीं की जानी चाहिए, ऐसे साधनों से शत्रु के जीवन का अन्त नहीं किया जाना चाहिए जो अधिक पीड़ादायक हो, सन्धियों का पालन किया जाना चाहिए, कुओं, पानी के स्रोतों, नदियों, पम्पों में विष नहीं मिलाया जाना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राष्ट्रों के द्वारा नैतिकता के मानदण्डों पर आधारित होने के कारण ही किया जाता है अगर कोई राष्ट्र इसका पालन नहीं करता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में हेय दृष्टि से देखा जाता है।

5. संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रावधान- 21 नवम्बर 1947 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों को मान्यता प्रदान करने के लिए एक विधि आयोग का गठन किया। राष्ट्रों को अपने

कर्तव्यों का पालन करने के लिए जागरूक बनाने के उद्देश्य से इस आयोग ने 1949 में राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों से सम्बन्धित प्रारूप के अन्तर्गत निम्नलिखित घोषणांए की-

(i) किसी अन्य राज्य के आन्तरिक व वाह्य मामले में हस्तक्षेप न करना।

(ii) किसी अन्य राज्य के गृहयुद्ध को प्रोत्साहन व सहायता न देना।

(iii) जाति, धर्म, नस्ल आदि के आधार पर भेदभाव न करके मानवीय अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में सबके साथ समान व्यवहार करना।

(iv) अपने देश में ऐसी परिस्थितियां न उत्पन्न होने देना जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा उत्पन्न हो।

(v) दूसरे राज्यों के साथ विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से करना।

(vi) युद्ध का परित्याग कर दूसरे देशों के प्रादेषिक एकता व अखण्डता का सम्मान करना।

(vii) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 19 का उल्लंघन करने वाले या जिसके विरूद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ कोई निरोधात्मक कार्यवाही कर रहा हो, उसको कोई सहायता न देना।

(viii) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा 9 का उल्लंघन कर प्रवेश प्राप्त करने वाले राज्यों को मान्यता न देना।

(ix) सन्धियों एवं अन्य दायित्वों का पूर्ण निष्ठा से पालन करना।

(x) अन्य राज्यों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुकुल आचरण करना।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों के पीछे कई तरह की मान्यताएं है। जिसके कारण कोई भी सभ्य एवं सुसंस्कृत राष्ट्र व उसके निवासी इसके विरूद्ध आचरण नहीं करते। किसी भी व्यवस्था का पालन उस स्थिति में आसान हो जाता है जब वह लोगों के मानसिक मान्यताओं के अनुरूप हो। यह बात काफी हद तक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध में भी सत्य है।

10.8 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की भावना के क्षीणता के कारण

यद्यपि सामान्य रूप से वर्तमान समय में राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों का पालन करने की प्रवृत्ति बढ़ी है, फिर भी ऐसे अनेक कारण उत्पन्न हो रहे हैं जो नैतिकता की भावना को क्षीण करने में सहायक हैं। इनमें से कुछ प्रमुख का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. युद्ध के स्वरूप में परिवर्तन- पहले लड़ाईयां सैनिको द्वारा केवल रणक्षेत्रों में लड़ी जाती थी किन्तु अब इसका स्थान समग्र युद्ध ने ले लिया है। अब युद्ध दो देशों की सेनाओं में नहीं अपितु समूची जनता के द्वारा लड़ा जाता हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कोई भीदेशयुद्ध में विजय तभी प्राप्त कर सकता है जब उसे अपनी जनता का भरपूर सहयोग प्राप्त हो। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र युद्ध शुरु करने से पहले अपनी जनता को अपने पक्ष में करने का पूरा प्रयास करता है।

ओपेनहाइम का मानना है कि पांच कारणों से समग्र युद्ध की धारणा का उदय हुआ है: प्रथम- वर्तमान समय में अधिकांशदेशों द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा का नियम स्वीकार किया गया है। जिसके कारण राष्ट्र के सभी बालिग पुरूष शस्त्र धारण करते है परिणामस्वरूप सैनिकों की संख्या मे विलक्षण वृद्धि हुई है। द्वितीय- युद्ध की प्रक्रिया जटिल होने के कारण सहायक सामग्री की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ गयी है। इसलिए इसका उत्पादन करने के लिए स्थापित विभिन्न कल-कारखानों में बड़ी संख्या में असैनिक जनता को लगाया जाता है। तृतीय- हवाई युद्ध का विकास तेजी के साथ हुआ है परिणामस्वरूप लड़ाई का क्षेत्र अब केवल युद्ध के मैदान तक सीमित नहीं है बल्कि शत्रु राष्ट्र को सामरिक रूप से कमजोर करने के लिए शस्त्रास्त्र तैयार करने वाले कारखानों, महत्वपूर्ण रेलवे स्टेषनों, औद्योगिक केन्द्रों , बन्दरगाहों और शत्रु को सहायता पहुंचाने वाले जलपोतों को भी निषाना बनाया जाता है और ऐसा करते समय सैनिक और असैनिक जनता में भेद सम्भव नहीं हो पाता है। चतुर्थ- अब युद्ध का विस्तार सामरिक क्षेत्र से हटकर आर्थिक क्षेत्र तक हो गया है परिणामस्वरूप कोई भी राष्ट्र अपने शत्रु को आर्थिक दृष्टि से कमजोर करने के प्रत्येक हथकंडे को अपनाता है। जिससे किसी न किसी रूप में सैनिक व असैनिक दोनों तरह के लोग प्रभावित होते हैं। पंचम- फॉसीवादी व नॉजीवादी विचारधारा के उदय के उपरान्त सर्वाधिकारवादी धारणा का विकास हुआ है जिसके कारण शान्ति एवं युद्धकाल प्रत्येक समय व्यक्ति पर राज्य का पूर्ण एकाधिकार मान लिया गया। इससे सैनिक और असैनिक जनता के बीच की विभाजक रेखा समाप्त होने लगी और समूची जनता युद्ध संलग्न समझी जाने लगी। इसलिए जनता के मनोबल को तोड़ने के लिए शत्रुदेशके रिहायशी इलाकों पर हमला करने में भी संकोच नहीं किया जाता है।

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा इग्लैण्ड को हराने के लिए पनडुब्बियों का प्रयोग कर इग्लैण्ड को खाद्यान्न व सामान पहुंचाने वाले तटस्थ देशों के जहाजों को बड़े पैमाने पर डुबा दिया गया। दोनों देशों ने बड़े पैमाने पर एक दूसरे के बन्दरगाहों का परिवेष्टन किया। द्वितीय विश्व युद्ध में हितलर ने ब्रिटेन को हराने के लिए उसके नगरों, कारखानों तथा बन्दरगाहों पर अन्धाधुन्ध बम वर्षा की। द्वितीय विश्व युद्ध का अन्त हिरोषिमा और नागाषाकी पर परमाणु बमों के हमले से हुआ। कुवैत को इराक से मुक्त कराने के लिए बहुराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा की गयी कार्यवाही में भी सैनिक क्षेत्र के साथ-साथ असैनिक क्षेत्र को भी निषाना बनाया गया। वर्तमान समय में आतंकवाद को शत्रु राष्ट्र के विरूद्ध हथियार बनाया गया है जिसमें शत्रु राष्ट्र के नागरिकों को भी निषाना बनाया जाता है। जबकि ये सभी

कृत्य अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों के पूर्णतः विरूद्ध हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का कोई भी राष्ट्र चाहे जितने आदर्शऔर नैतिकता की बाते करे लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह अनैतिक कार्यो का भी सहारा लेता रहता है।

2. राष्ट्रीयता की प्रबल भावना- राष्ट्रीयता की प्रबल भावना ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का स्थान ले लिया है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न राज्यों के सैनिक अपनेदेशकी रक्षा और राजाओं का गौरव बढ़ाने के लिए लड़ा करते थे लेकिन आज विभिन्न राष्ट्र अपनी विषिष्ट जीवन पद्धति, सिद्धान्तों एवं आदर्शों के लिए लड़ते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने अर्थात् दुनियां में साम्यवाद को स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प था तो संयुक्त राज्य अमेरिका इस भयंकर खतरे को दूर करने के लिए कटिबद्ध था। दोनों को अपने पक्षों की सच्चाइ्र पर पूराविश्वासथा और वे इसके लिए मर मिटने को तैयार थे। आज कोई भी राष्ट्र सुरक्षा या राष्ट्रीय हितों की कीमत पर कोई भी कार्य नहीं करेगा चाहें वह जितना भी नैतिक क्यों न हो। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि वर्तमान समय में राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीयता पर पूरी तरह हावी हो चुकी है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संहारक हथियारों की विभीषिका शीघ्र ही राष्ट्रों को नैतिकता के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण की आवश्यकता का बोध करायेगी। राष्ट्र को नैतिकता की कीमत पर राष्ट्रीय हितों को पूरा करने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

3. नैतिकता लागू करने वाले व्यक्तियों के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन- वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में नैतिक मानदण्डों का निर्धारण करने वाले व्यक्तियों का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया है। प्रथम विश्व युद्ध तक पाष्चात्य जगत में प्रायः राजतन्त्रीय शासन पाया जाता था या दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु जिन राजदूतों की नियुक्ति की जाती थी वे प्रायः अभिजात्य वर्ग के लोग होते थे जिनकी सोच एक जैसी थी। भले ही वे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी या किसी अन्यदेशके क्यों न रहे हों। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ही अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के कर्ताधर्ता के रूप में राजाओं तथा इस कुलीन वर्ग की भूमिका में छरण आने लगा अब तक ये कर्मचारी अपने कर्तव्यपालन के लिए राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे किन्तु अब लोकतन्त्रीय व्यवस्था प्रचलित हो जाने के कारण विदेश नीति का निर्धारण मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाने लगा है जो अपने कार्यो के लिए जनता के प्रतिनिधियों और अन्तिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी या जवाबदेह होता है। सामान्य जनता या उसके प्रतिनिधियों के लिए नैतिकता का पालन प्राचीन राजाओं की भांति एक आवश्यक धार्मिक कर्तव्य नहीं रह गया है। राजाओं द्वारा अपनी प्रतिष्ठा व सम्मान को बनाये रखने के लिए अनैतिक कार्यो को सर्वथा अनुचित समझा जाता था क्योंकि उनको ऐसा लगता था कि नैतिक मानदण्डों का उल्लंघन न सिर्फ उनके अन्तःकरण के आदर्शों के विपरीत होगा बल्कि यह उनके गौरव व सम्मान को मिट्टी में मिलाकर उनकी शक्ति को क्षीण कर देगा। कहा जाता है कि जब फ्रांस के राजा लुई 9 वें को बैंक आफ इग्लैण्ड की जाली हुण्डियों पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया तो राजा ने इस प्रस्ताव को

अस्वीकार करते हुए कहा कि इससे उसके विरूद्ध भीषण असन्तोष व रोष उत्पन्न होगा। इसी प्रकार फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समय 1792 में लुई सोलहवें को बचाने के लिए फ्रांस की मुद्रा के बारे में अस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस द्वितीय से ऐसा कार्य करने को कहा गया तो उसने इस प्रार्थना को रद्द करते हुए घोषणा की कि ऐसी अधार्मिक योजना कभी स्वीकार नहीं की जायेगी।

1945 में ग्रेट ब्रिटेन के विदेश मन्त्री बनने वाले बेविन एक मजदूर थे और यातायात तथा सामान्य कार्यो के यूनियन के भूतपूर्व महामन्त्री थे तो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रूस की विदेश नीति के सूत्रधार मोलोतोब एक पेषेवर क्रान्तिकारी थे। इन चुने हुए प्रतिनिधयों के लिए ऐसे सर्वमान्य नैतिक विश्वासों या मान्यताओं की कमी है जिनका पालन करना ये आवश्यक समझते हों। कभी-कभी तो यह देखने को मिलता है कि राष्ट्रीयता के उन्माद के कारण राष्ट्रीय जनमत का दबाव भी इनको अनैतिक कार्य करने के लिए बाध्य या प्रेरित करता है।

10.9 अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों में प्रायः दो तरह का दृष्टिकोण देखने को मिलता है- यथार्थवाद और आदर्शवाद। यथार्थवादियों का मानना है कि प्राचीन भारत में कौटिल्य के समय तथा पाष्चात्य जगत में मैकियावेली एवं हीगल के समय तक विभिन्न राष्ट्रों के मध्य नैतिकता का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं था । हींगल के अनुसार ''प्रत्येक राष्ट्र अपने में एक पूर्ण इकाई है। राष्ट्रों के सद्भाव और विरोध उनके निजी स्वार्थों को ध्यान में रखकर होता है।'' कैनेथ थाम्पसन ने लिखा है ''राष्ट्रीय नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान नैतिकतापूर्ण दृष्टिकोण की दुर्बलताएं हैं जिनके मूल में दिखावापन और घोर अहम् है।'' प्रत्येक राष्ट्र के लिए नैतिकता की कसौटी उसके द्वारा घोषित तथा स्वीकृत नीतियां होती हैं। राष्ट्र के लिए अपना राष्ट्रीय हित सर्वोपरि होता है। जिससे वह समझौता नहीं करता है। इसके लिए वह प्रत्येक नैतिक तथा अनैतिक साधन अपनाता रहता है। इससे स्पष्ट है कि यथार्थवादियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है।

इसके विपरीत आदर्शवादियोंका मानना है कि नैतिक मूल्यों का महत्त्व केवल वैयक्तिक जीवन में नहीं है बल्कि यह राष्ट्रों के लिए भी आवश्यक है। जब तक व्यक्ति और राज्य दोनों द्वारा एक समान नैतिक मूल्यों को स्वीकार नहीं किया जायेगा तब तक उनमें वैचारिक एकता की स्थापना सम्भव नहीं होगी। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में समान प्रतिष्ठित मूल्यों को महत्व दिया जाना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने लिखा था ''हम ऐसे युग के प्रारम्भ पर हैं जिसमें राष्ट्रों द्वारा उन्ही व्यवहारों, विचारों तथा मूल्यों को महत्व दिया जायेगा जिनकी सभ्य राष्ट्र अपने नागरिकों से अपेक्षा करते हैं।'' इसी प्रकार रूजवेल्ट ने भी कहा कि ''देशीय नैतिकता व्यक्तिगत नैतिकता की तरह नितान्त आवश्यक है।''

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध में प्रचलित उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण अतिवादी हैं। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का कोई भी राष्ट्र इनमें से किसी एक का वरण नहीं करता है। प्रत्येक शक्तिशाली या निरंकुश राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों के प्रति अपना निश्चित नैतिक मानदण्ड होता है। यह प्रश्न अत्यन्त संवेदनशील है कि व्यक्ति और राज्य में चुनना पड़े तो निर्णय कैसे किया जाय। इस सम्बन्ध में फॉसीवादी, नॉजीवादी या सर्वाधिकारवादी मानते है कि राज्य एक पवित्र इकाई है जिस पर सभी वैयक्तिक अधिकार एवं स्वतन्त्रता को न्यौछावर किया जा सकता है तो वही उदारवादी और व्यक्तिवादी मानते है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा महत्वपूर्ण है इसलिए इनको छिनना एक बर्बरता है। अतः नैतिकता का यह तकाजा है कि ऐसा मध्य मार्ग चुना जाय जो व्यक्ति और राज्य दोनो के सामंजस्य का मार्ग हो और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदंडो के अनुरूप हो।

अन्ततः कहा जा सकता है कि बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में नैतिकता का महत्व उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है। थाम्पसन के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गयी जब शेष संसार द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत के लिए राष्ट्रीय उद्देश्यों को चरम लक्ष्य माना गया।'' निःसंदेह आज दुनियाँ के शक्तिशाली राष्ट्र नैतिकता कि दुहाई देकर अपने राजनीतिक स्वाथों कि पूर्ति करते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का स्तर गिरा है तथा राष्ट्रों की सम्मान भावना इसके प्रति कम हुई है किन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भारी मन से ही सही राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदंडो का पालन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को स्थायित्व प्रदान करनें में सराहनीय योगदान दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी इस दिशा में सतत् प्रयत्नशील हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का पालन कराया जाना सुनिष्चित किया जाय। तभी विश्व को शान्तिमय तथा सुरक्षित जीवन प्रदान किया जा सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा समय की मांग है और इसे तभी पूरा किया जा सकेगा जबकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सभी राष्ट्र नैतिकता के मानदंडो को अपने जीवन का अनिवार्य हिस्सा बना लें।

अभ्यास प्रश्न 2

1. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता कि पीछे विश्व जनमत एक प्रमुख अनुमोदक होता है। सत्य है/असत्य है।

2. क्या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों के पालन का आधार निर्णयकर्ता को भी माना जा सकता हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्डों को मान्यता प्रदान करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विधि आयोग का गठन किया गया -

(i) 10 दिसम्बर 1950 को (ii) 21 नवम्बर 1997 को

(iii) 24 अक्टूबर 1945 को (iv) इनमें से कोई नहीं

4. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रुस के विदेश नीति के प्रमुख सूत्रधार मोलोतोव क्या थें?

10.**11सारांश**

प्रत्येक सभ्य मानव समाज की कुछ नैतिक मान्यताएं होती हैं जिस पर समाज की व्यवस्था आधारित होती हैं। नैतिक मान्यताए राष्ट्रीय समाज के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण हेतु भी महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में राष्ट्रों की शक्ति को सीमित कर शान्ति व सुरक्षा स्थापित करने में सहयोग देती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रायः दो तरह का दृष्टिकोण देखने को मिलता है- आदर्शवाद और यथार्थवाद। आदर्शवादी मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में नैतिक मानदण्डों का पालन किया जाना अति आवश्यक है। नैतिक मानदण्ड ही वह अवरोध हैं जो राष्ट्रों को अशान्ति उत्पन्न करने या युद्ध से रोकते हैं। नैतिकता के बिना अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में शान्ति कीआशाधूमिल हो जायेगी जबकि इसके विपरीत यथार्थवाद की मान्यता है कि नैतिकता राज्य के क्रियाकलापों पर सार्वभौम अवधारणाओं के रूप मे लागू नहीं की जा सकती है बल्कि समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार इसका अवलम्बन किया जाता है। राज्य नैतिकता के मानदण्डों का पालन विवेक और सम्भावित परिणाम के आधार पर करते हैं। इस दृष्टिकोण का प्रमुख प्रतिपादक मार्गेन्थाऊ कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए सदैव शक्ति प्राप्त करने कि चेष्टा करता है जैसा कि उसका कथन है ''अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है।'' इससे यह प्रदर्षित होता है कि राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करने अर्थात राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु प्रत्येक कार्य करने के लिए स्वतंन्त्र है। राष्ट्र के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के मानदण्ड बाध्यकारी नहीं हैं। राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का सहारा अपने गलत कार्यों को आवरण प्रदान करने के लिए भी करता हैं।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में नैतिक संहिता का अभाव देखने को मिलता है फिर भी अनेक ऐसी मान्यताएं है जिनको राष्ट्रों द्वारा आपसी सम्बन्धों के संचालन में स्वीकार किया जाता है जैसे राष्ट्रों द्वारा की गयी संधियो का पालन किया जाना चाहिए, आपसी विवादो का निस्तारण शान्तिपूर्ण तरीके से करने का प्रयास करना चाहिए, किसी राष्ट्र के आन्तरिक या वाह्य मामलो में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो तथा संगठनो का आदर करना चाहिए आदि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को क्षेत्रिय स्तर पर बांधकर उसका समाधान करने का प्रयास सदैव किया जाने लगा है। परमाणु बम और हाइड्रोजन बम तथा रासायनिक हथियारों के इस युग मे मानवता संकटग्रस्त प्रतीत होने लगी है। इसलिए विश्व शान्ति और सुरक्षा के प्रति राष्ट्रों के अलावा विश्व जनमत भी जागरूक हुआ है। जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के लिए शुभ संकेत माना जा सकता है। आजदुनियाँका शक्तिशाली से शक्तिशाली राष्ट्र भी नैतिकता के मानदण्डों को दरकिनार कर कोई

कार्यवाही करने की हिम्मत नहीं कर सकता क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे विश्व जनमत की शक्ति होती है।

10.12 शब्दावली

1.नैतिकता - मन अथवा अन्तर्रात्मा का आदेश

2.शिष्टाचार - विनम्रतापूर्ण आचरण

3.अतिवादी - वैचारिक उग्रता

4.संहिता - व्यवस्थाओं का सुनियोजित संग्रह

5.वैध - विधि संगत

6.न्याय - उचित या नियम के अनुकुल

7.अवरोधक - बाधा उत्पन्न करने वाला

8.कन्वेंशन - सम्मेलन

9.गृहयुद्ध - राष्ट्र का आन्तरिक विद्रोह

10.कानून - सत्ता द्वारा आयोजित आचार-व्यवहार के नियम

11.बहुराष्ट्रीय - कई राष्ट्रों से सम्बन्धित

12.व्यक्तिवाद - व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानने वाली धारण

10.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सत्य है , 2.हां, 3.(i) नैतिक साधनो के प्रयोग पर, 4. 1618-1648 ई0 तक

अस प्रश्न 2

1. सत्य, 2. हां, 3.(ii) 21 नवम्बर 1947 को , 4.एक क्रान्तिकारी थें

10.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.एस.सी. सिंघल, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2013-14।

2.डॉ. प्रभुदत्त शर्मा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (सिद्वान्त एवं व्यवहार) कालेज बुक डिपो, जयपुर एवं नई दिल्ली।

3. यू. आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्वान्त एवं व्यवहार, अकेडेमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालंधर 2001-2।

4.डॉ.बी.एल.फाड़िया, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा,2015।

10.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1.अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे की अनुशक्तियों का विस्तृत वर्णन करें।

2.अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की भूमिका का उल्लेख करें।

3.अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की भूमिका के सम्बन्ध में मार्गेन्थाऊ के दृष्टिकोण का विवेचन करें।

4.क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक संहिता का अस्तित्व है? तर्क सहित व्याख्या करें।

इकाई 11 विश्व लोकमत

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2ऊद्देश्य

11.3 विश्व लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा

11.4 क्या विश्व लोकमत का अस्तित्व है

11.6 विश्व लोकमत के निर्माण में सहायक तत्व

11.7 विश्व लोकमत को सीमित करने वाले तत्व

11.8 विश्व लोकमत की भूमिका

11.10 सांराश

11.11 शब्दावली

11.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.13 सदर्न्भ ग्रन्थ सूची

11.14 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना-

राजनीति के लोकतन्त्रीकरण एवं संचार के साधनो में क्रान्तिकारी परिवर्तन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में विश्व लोकमत की भूमिका को बढ़ा दिया है। किसी भी देशकी शासन का संचालन जनता द्वारा प्रकट या मौन स्वीकृति के आधार पर किया जाता है। यह बात प्रजातंत्र के साथ-साथ राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र, तथा विदेशी शासन के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से सत्य है। इसी बात को इन्गित करते हुएआर्टीगेग गैसेल ने लिखा है ''लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।'' समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण में विश्व लोकमत की भूमिका और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मनमाने एवं असीमित शक्ति प्रयोग को नियंत्रित करता है। वर्तमान युग को लोकतांत्रिक युग कहा जाता है क्योकि आज दुनियाँ का प्रत्येक देशया तो लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्वीकार लिया है या लोकतंत्र को स्थापित करने के मार्ग पर अग्रसर है या अपने आप को लोकतांत्रिक प्रदर्षित करने का प्रयास करता हैं। लोकतंत्र में आस्था रखने वाला या लोकतंत्र का दिखावा करने वाला कोई भी राष्ट्र लोकमत की अवहेलना करने का साहस नहीं कर सकता है। यातायात व संचार के साधनो में वृद्धि के कारण देशों के बीच भौगोलिक दूरी कम हुई है और राष्ट्रों के निवासियों में निकटता बढ़ी है। परिणामस्वरूप दुनियाँ के किसी भी देशमें घटित होने वाली घटना विश्व के दूसरेदेशोंके लोगो को भी प्रभावित करने लगी है। इससे विश्व समुदाय के लोगो के विचार निर्मित होते हैं। इस प्रकार सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व लोकमत के निर्माण में अग्रणी भूमिका अदा की है। मानव कल्याण को प्रोत्साहित करने तथा शान्ति व सुरक्षा स्थापित करने के लिए लोग प्रोत्साहित हुए हैं परिणामस्वरूप दुनियाँ का प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्य एवं आचरण में तब तक संयम रखने का प्रयास करने लगा है जब तक उनका बहुत बड़ा नुकसान या उसके अस्तित्व को संकट उत्पन्न नहीं हो जाता है इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि विश्व लोकमत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का महत्वपूर्ण निर्धारक बन गया है। आज शान्ति स्थापित करने के साधन के रूप में वार्ता, षस्त्र-नियन्त्रण निःशस्त्रीकरण, पंचनिर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ आदि को विशेष महत्व दिया जाने लगा है।

11.2ऊद्देश्य

इस इकाई में हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण में विश्व लोकमत की भूमिका की चर्चा करेगें। इसके अलावा यह जाँचने का प्रयास करेगें कि विश्व लोकमत क्या है? यह अपने आपको कैसे व्यक्त करता है? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण में इसकी भूमिका क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय जगत में होने वाले शक्ति संघर्ष पर यह कितना अंकुष लगाता है? दुनियाँके देशइसके समक्ष कितना नतमस्तक होते है? विश्व लोकमत शान्ति व सुरक्षा स्थापित करने के दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है? विश्व

लोकमत का बढ़ता हुआ प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसके अध्ययन को महत्वपूर्ण बना दिया है। इसके अध्ययनोपरान्त आप -

- यह जान सकेगें की विश्व लोकमत क्या है?
- अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में लिया जाने वाला निर्णय लोकमत से कितना प्रभावित होता है?
- विश्व लोकमत का निर्माण कैसे होता है?
- विश्व लोकमत के विकास के मार्ग में क्या बाधाएं हैं?
- क्या विश्व लोकमत जैसी किसी चीज का अस्तित्व है?

11.3 विश्व लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा

विश्व लोकमत अन्तर्राष्ट्रीय राजनिति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का महत्वपूर्ण तत्व है। इसलिए इसके अर्थ को समझने से पूर्व हमें लोकमत के अर्थ को समझना आवश्यक है। लोकमत शब्द दो शब्दों लोक और मत से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है-सामान्य सार्वजनिक प्रश्नोंपर जनता का मत। इसको अलग-अलग विद्वानों ने निम्न रूपो में परिभाषित किया है-

जिंसवर्ग के अनुसार-''लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों के पुंज से होता है जो न्यूनाधिकनिश्चितरूप से प्रतिपादित होते है। जिसमें से कुछ में स्थापित्व होता है और जिनको मानने वाले लोग उन्हे इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि अनेक मस्तिश्कों द्वारा एक साथ विचार किये जाने के परिणाम हैं।

सॉल्टाऊ के अनुसार-''लोकमत शब्द का प्रयोग सामान्यतया उन विचारों और अभिलाषाओं के सम्बन्ध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में रखती है।''

लावेल के शब्दों में- ''अपने नाम के योग्य होने के लिए लोकमत को वास्तविक रूप से जनता का मत होना चाहिए, केवल बहुमत ही काफी नहीं तथा सर्वसम्पति की भी आवश्यकता नहीं परन्तु मत को ऐसा होना चाहिए कि जब अल्पमत वाले इनमे भाग न ले तो वे डर के कारण नहीं बल्कि इसमे विश्वास के कारण इसे स्वीकार करें तथा इसका बन्धन महसूस करें। यह लोकतंत्र पूर्ण हो तथा अल्पसंख्याकों के विचारों को खुलें दिल से स्वीकार किया जाना चाहिए।''

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकमत वह मत है जो विवेक और स्वार्थरहित बुद्धि पर आधारित होता है और जिसका उद्धेष्य सामान्य जनता का हित करना होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विश्व लोकमत की अवधारणा राष्ट्रीयलोकमत की तरह कोई संवैधानिक, मान्य तथानिश्चितअवधारणा नहीं है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के राष्ट्र और नेता जहा इसका प्रयोग अपने निर्णयों को उचित एवं प्रासंगिक ठहराने के लिए करते हैं तो विद्वान इसे अलग-अलग दृष्टिकोण से देखते हैं। जैसा कि मार्गेन्थाऊ ने लिखा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के साहित्य में कोई ही ऐसी अवधारणा होगी जिसे पिछले चार दषकों में राजनीतिज्ञों तथा लेखकों ने अधिक महत्वपूर्ण तथा कम विष्लेषणात्मक सारांश के रूप में पेष किया हो, जितना कि विश्व लोकमत की अवधारणा को।'' निसन्देह विश्व लोकमत की की अवधारणा स्पष्ट नहीं है। इसलिए कुछ विद्वान इसे बहुमत के रूप में, तो कुछ अधिमान्य अथवा साझेमत के रूप में, तो कुछ इसे सर्वसमर्थित अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व स्तरीय मत के रूप में परिभाषित करते हैं। सामान्य रूप से विश्व लोकमत को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि विश्व लोकमत मानव जाति के अधिकांश भाग द्वारा अपनाया गया सामूहिक या साझा मत, आचार-व्यवहार या सम्पर्क है जिसकाऊद्देश्य सम्पूर्ण विश्व या मानवता का कल्याण करना है। अलग-अलग विद्वानों ने विश्व लोकमत को निम्नलिखित रूपों में परिभाषित किया है-

मार्गेन्थाऊ के अनुसार ''स्पष्टतया विश्व लोकमत वह लोकमत है जो देशीय सीमाओं को पार कर लेता है। वह विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कुछ मूल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एकमत में एकीकृत करता हैं समस्त विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज की विसात पर जो कोई चाल इस मतैक्य द्वारा अस्वीकृत की जाती है उसके विरूद्ध यह मतैक्य स्वचालित प्रतिक्रियाओं में अपना अनुभव करा देता है। जब कभी किसी राष्ट्र की सरकार एकनिश्चितनीति की घोषणा करती है और अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर कोई ऐसा कार्य करती है जो लोकमत का उल्लंघन करता है तो मानवतादेशीयसम्बन्धों की चिन्ता किये बिना उठ खड़ी होगी। यही नहीं वह लोकमत का उल्लंघन करने वाली सरकार पर स्वचलित अनुशक्तियों के माध्यम से अपनी इच्छा थोपने का प्रयत्न करेगी। वह सरकार स्वयं को उस स्थिति में पाती है जिसमें की एक व्यक्ति, व्यक्तियों का समूह, जिसने अपनेदेशीयसमाज, इसके उप-विभागों में से किसी एक की जन नीतियों की अवज्ञा की है। समाज उनको अपने मानकों के अनुरूप बनने के लिए विवश कर देगा और अनुरूपता के अभाव में उसका निष्कासन कर देगा।''

विश्व लोकमत की परिभाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न दुविधा को दूर करने केऊद्देश्य से ब्राइस ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए लिखा है कि ''यह शब्द लोकमत साधारणतया सारे समुदाय को प्रभावित करने वाले तथा हित के मामलो के प्रति व्यक्तियों द्वारा प्रकट विचारों के पूर्ण योग के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार से यह सभी प्रकार के असंगत विचारों, विश्वासों, कल्पनाओं, पूर्वाग्रहों तथा आकांक्षाओं का समूह होता है यह उलझन पूर्ण, असंगत, अव्यवस्थित, दिन-प्रतिदिन तथा सप्ताह-प्रतिसप्ताह परिवर्तित होने वाली धारणा है परन्तु इन विविधताओ तथा उलझनों के बीच जैसे-जैसे यह महत्वपूर्ण होता जाता है। इसके प्रति उठने वाले प्रत्येक प्रश्न को बडे ध्यानपूर्वक और स्पष्टता से देखना होगा। जब तक कुछ विचार या विचारों का समूह नागरिको के स्पष्ट बहुमत से पैदा नहीं हो

जाता तथा कोई निश्चित आकार धारण नहीं कर लेता जिसका किसी विशेष प्रस्ताव या सिद्धान्त की स्वीकृति या अस्वीकृति करने के रूप में जनमत (लोकमत) की बात करते हुए हम हवाला देते है तथा जो निर्देशित करने वाली या शासन करने वाली शक्ति बन जाता है या हम यह भी सोच सकते है कि वह सारे राष्ट्र का मत होता हैं। जो विभिन्न भावनाओं से बनता हैं जिसमें प्रत्येक सिद्धान्त या एक व्यावहारिक प्रस्ताव का समर्थन किया जाता है या मूर्तरूप दिया जाता है। कुछ भावनाएं दूसरे से ज्यादा शक्ति विकसित करती हैं। क्योंकि उनके पीछे बड़ी संख्या में या दृढ़ घनत्व होता है और जब कोई प्रत्यक्ष रूप से शक्तिशाली होता है तो उसे सर्वोत्तम लोकमत का नाम दिया जाने लगता है जो लोगों के समूह के मतों को साकार रूप में प्रस्तुत करता हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विश्व लोकमत विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, विषयों , आवश्यकताओं तथा विकास पर भारी बहुमत से बनता है। यह विश्व की सामान्य जनता के स्थायी विचारों पर आधारित व विवेकपूर्ण विचार होता है जो आवश्यक रूप से सम्पूर्ण विश्व या मानवता के कल्याण से सम्बन्धित होता है। इसलिए विश्व जनमानस इसे क्रियान्वित कराने के लिए राष्ट्रीय सरकारो तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ को प्रोत्साहित तथा प्रेरित करता है।

11.4 क्या विश्व लोकमत का अस्तित्व है-

विश्व लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा जानने के बाद यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठने लगता है कि क्या विश्व लोकमत का अस्तित्व है। स्वयं मार्गेन्थाऊ ने प्रश्न किया है कि विश्व लोकमत के सामान्य सन्दर्भो का ऐसा अर्थ होता है तो क्या आजकल ऐसा विश्व लोकमत अस्तित्व में है और क्यादेशीयसरकारों की विदेशनीतियो पर अवरोधक प्रभाव डालता है। इन प्रश्नों का उत्तर निष्चय ही नकारात्मक होगा क्योंकि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है कि कोई सरकार किसी अधिदेषीय लोकमत की सहज-स्वैच्छिक प्रतिक्रिया द्वारा किसी विदेशनीति का अनुसरण करने से रूक गयी हो। विश्व में लगभग 193 सम्प्रभु राज्य (संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के आधार पर) अपने राष्ट्रीय शक्ति एवं सामर्थ्य के आधार पर अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए तत्पर है। ऐसी स्थिति में विश्व लोकमत को अपना अस्थित्व प्रदर्षित करने के लिए किसी-किसी प्रमाण की आवश्यकता अवश्यहै। विश्व लोकमत की धारणा में पायी जाने वाली अस्पष्टता इस प्रश्न को और अधिक गूढ़ बना देती है। विश्व लोकमत को स्वीकार नहीं करने वाले विद्वान अपनी बात के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं-

1.विश्व लोकमत का अस्तित्व नहीं है- विश्व लोकमत की धारणा को नहीं मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि विश्व लोकमत का अस्तित्व नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि विश्व के उन्हीं समस्याओं का समाधान हुआ है। जिन पर महाशक्तियों में मतैक्य था जिन मामलो में महाशक्तियों का मतैक्य नहीं रहा वहां शेष के आवाज को कुचल दिया गया। इतना ही नहीं आज लगभग विश्व के

सभीदेशोंके नागरिको की यह सामान्य धारणा बन गयी है कि हथियारो का निर्माण कम किया जाय। जिससे इनके निर्माण पर खर्च होने वाली धनराषि का उपयोग कल्याणकारी कार्यो में किया जा सके। इसके बाबजूद दुनियां के अधिकांश राज्य आज भी नये हथियारों के अविष्कार व निर्माण पर अपने बजट का बड़ा भाग खर्च कर रहे हैं और अपने इस कार्य को औचित्यपूर्ण एवं प्रासंगिक सिद्ध करने लिए वे दूसरे देशों के साथ संबंधों में कटुता को बनाये हुए हैं।

2. विश्व लोकमत प्रभावहीन है- तीसरीदुनियाँके अधिकांश राज्य आज भी आर्थिक दृष्टि से अल्पविकसित,विकासशील या पिछड़े हुए है तथा अपनी गरीबी, भूखमरी तथा दरिद्रता की समस्याओं से जूझ रहें है। विकसित देशआर्थिक सहायता के नाम पर इनका खुलकर शोषण कर रहे है। विकसित राष्ट्रों की मनमानी पर रोक लगाने वाली कोई शक्ति नहीं है। अगर विश्व लोकमत जैसी किसी चीज का अस्तित्व होता तो वह न सिर्फ विकसितदेशोंके आर्थिक विकास के लिए प्रेरित करता बल्कि आवश्यकता पड़ने पर बाध्य भी करता। विगत कई वर्षो से उत्तर -दक्षिण संवाद के माध्यम से विश्व की अर्थव्यवस्था को न्यायपूर्ण एवं तर्कसंगत बनाने की बात की जा रही है। ऐसा माना जाता है किउत्तर के देशविकसित और दक्षिण के देश विकासशील हैं। विश्व की लगभग एक तिहाई जनसंख्या दक्षिण के देशों (तीसरी दुनियां के देशों) में निवास करती है फिर भी उत्तर के विकसित देशकभी उनकी मांग को महत्व नहीं देते हैं। यह विश्व जनमत की प्रभावहीनता को प्रदर्शित करता है।

3. सैनिक दृष्टि से विश्व लोकमत की उपेक्षा- विश्व लोकमत सैनिक दृष्टि से भी उपेक्षित दिखायी देता है। समुद्र तटीय क्षेत्रों व महासागरो में स्थिति द्वीपों वाले राष्ट्र रेडियोधर्मिता से पीड़ित हैं, जिसके कारण उनका जनजीवन अस्त-व्यस्त हैं। रेडियोधर्मिता का सबसे बड़ा कारण परमाणु सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा महासागरों में किया जाने वाला आणविक विस्फोट है। इसलिए प्रभावित राष्ट्र सदैव आणविक विस्फोटों का विरोध करते हैं, जिससे उनके पर्यावरणीय संकट को कम किया जा सके। इतना ही नहीं हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करने का प्रस्ताव कई बार पारित किया जा चुका है। इसके बावजूद संयुक्त राज्य अमेरिका ने डियागो गार्सिया में अपना नौसैनिक अड्डा स्थापित किये हुए है। जिसका उपयोग खाड़ी युद्ध के समय किया गया था। यह विश्व लोकमत की उपेक्षा का ही परिणाम है कि महासागर महाशक्तियों के सैनिक प्रतिस्पर्धा के केन्द्र बन गये है।

4. मानवाधिकारों का हनन- इन्टनेषनल अमनेस्टी के द्वारा समय-समय पर प्रकाषित प्रतिवेदन इस तथ्य सेदुनियाँके लोगों को अवगत कराते रहते हैं कि दुनियाँ के अधिकांश राष्ट्रों में मानवाधिकारों का खुल्लम-खुल्ला उल्लंघन किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानवाधिकारों का संकल्प पत्र मानवाधिकारों की रक्षा के प्रति विश्व लोकमत का प्रतीक कहा जा सकता है। यह तथ्यात्मक सत्य है कि दुनियाँ के देशों में मानवाधिकारों के उल्लंघन का जब कोई मामला प्रकाश में आता है तो दुनियाँ के अलग-अलग राष्ट्र इसको अपने-अपने चश्में (नजरिये) से देखते हैं।

परिणामस्वरूप विश्व लोकमत के अनुरूप मानवाधिकारों की रक्षा का कोई प्रभावी यंत्र विकसित नहीं हो पा रहा है।

5. विश्व लोकमत की बेचारगी- विश्व लोकमत के रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई भी व्यवस्थित तंत्र विकसित नहीं हो पाया है। इसलिए जब कोई शक्तिशाली राष्ट्र विश्व लोकमत की उपेक्षा कर अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने का प्रयास करता है तो दुनियाँ मूकदर्शक बन तमाशा देखने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाती हैं। 1990 में इराक ने जब कुबैत पर अनाधिकृत रूप से आधिपत्य स्थापित कर लिया तो विश्व लोकमत उसके विरूद्ध हो गया परन्तु वह कोई सार्थक कार्य नहीं कर सका। कुवैत को इराक से मुक्त कराने का बीड़ा संयुक्त राष्ट्र संघ के मार्गदर्शन में बहुराष्ट्रीय सेनाओं ने उठाया। कुवैत को इराक से मुक्त कराने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की गिद्ध दृष्टि इराक ने तेल भण्डार पर थी परिणामस्वरूप विश्व लोकमत के विरोध के बावजूद वह इराक से सद्दाम हुसैन की सत्ता को उखाड़ फेका। विश्व लोकमत तमाशबीन बनकर इस घटना को देखता रह गया।

6. आतंकवाद के विरूद्ध प्रभावशाली कार्यवाही का अभाव- आज विश्व लोकमत प्रत्येक तरह के आतंकवाद को घृणा के दृष्टि से देखता हैं। आतंकवाद से पीड़ित राज्यो के अलावा शान्ति के समर्थक द्वारा भी प्रत्येक तरह के आतंकवाद के विरूद्ध कार्यवाही का समर्थन किया जाता है। इसके बावजूद आज भी दुनियाँ के कई राष्ट्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आतंकवाद को सहायता या समर्थन दे रहे है विश्व लोकमत के बावजूद इन देशों या आतंकवादियों के विरूद्ध पीड़ित राष्ट्र के अलावा अन्य कोई राष्ट्र तब तक कार्यवाही के लिए आगे नहीं आता है जब तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसका स्वयं का हित प्रभावित न हो। भारत के विरूद्ध पाकिस्तान द्वारा आतंकवादियो का समर्थन इसका जीवन्त उदाहरण है।

मार्गेथाऊ ने लिखा है कि''राष्ट्रीय सरकारो की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को सीमित करने वाला एक विश्व लोकमत तो मात्र अभिधारणा है अब तक विश्व राजनीति की वास्तविकता में इसका निशान शेष नहीं हैं।

उर्पयुक्त विवेचन का कदापि यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि विश्व लोकमत अस्तित्व विहीन है। विश्व लोकमत के अस्तित्व के कई पद चिन्ह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में देखे जा सकते हैं। मानवाधिकारो के लिए समर्थन,निःशस्त्रीकरण, शस्त्र-नियन्त्रण, विश्व शान्ति का सर्मथन तथा युद्ध परमाणु शस्त्रो, साम्राज्यवाद, उपनिवेषवाद तथा नस्लवाद का विरोध इसके उदाहरण हैं। विश्व लोकमत के प्रभाव में ही प्रथम विश्व युद्ध के बाद वर्साय की सन्धि द्वारा विश्व शान्ति की स्थापना हेतु राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व ही अमेरिकी राज्य सचिव कार्डे ली हाल ने कहा था ''एक विश्व लोकमत जो शान्ति के सभी साधनों से अधिक प्रभावकारी है, सारे विश्व में तेजी से फैल रहा है। यद्यपि राष्ट्र संघ विश्व शान्ति के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका जैसा कि कुछ विद्वान

कहते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के बीज वर्साय की सन्धि में ही बो दिये गये थे। परिणामस्वरुप 1939 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध शुरु हो गया। विश्व लोकमत सदैव से शान्ति का समर्थक रहा है। इसलिए द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ के साथ ही शान्ति स्थापित करने और शान्ति स्थापना को सतत् बनाए रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की दिशा में प्रयास किया जाने लगा परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्ति के पष्चात् 17 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व लोकमत का उपकरण और संयुक्त राष्ट्र की महासभा को विश्व की खुली आत्मा कहा जाता है। न्यूयार्क टाइम्स ने अपने एक सम्पादकीय में लिखा था कि ''संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के पास चार्टर के अन्तर्गत काफी संचित शक्ति है जिससे कम से कम विश्व लोकमत को उत्प्रेरित किया जा सकता है। जो अन्तिमविश्लेषणमें शक्ति सन्तुलन को निर्धारित करता है।''

1945 ई.के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वास्तविक व्यवहार में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जो राष्ट्रीय शक्ति के तत्व को सीमित करने के साधन के रुप में विश्व लोकमत के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ में कटुता उत्पन्न हो गयी जिसे शीत युद्ध के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिससें दोनो राष्ट्र एक-दूसरे को कमजोर करने तथा नीचा दिखाने का अवसर ढूढ़ने लगे। शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दो गुटो को जन्म दिया। जिसमें एक गुट का नेतृत्व पूंजीवादी अमेरिका कर रहा था तो दूसरे गुट का नेतृत्व साम्यवादी सोवियत संघ कर रहा था। दोनों राष्ट्रों की यह गुटबाजी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नकारात्मक प्रभाव डालने लगी परिणामस्वरुप संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को लकवा सा लग गया। कहा जाता है कि सुरक्षा परिषद में कोई निर्णय इसलिए नहीं हो पाता था कि मामला पूंजीवादी देशसे सम्बन्धित होने पर अमेरीका वीटो का प्रयोग कर निर्णय होने से रोक देता था और यदि मामला साम्यवादी देशसे सम्बन्धित होता था तो सोवियत संघ वीटो का प्रयोग कर निर्णय होने से रोक देता था परिणास्वरूप विश्व लोकमत की चिंता बढ़ने लगी थी जिसको देखते हुए महासभा ने 1950 में शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव पारित किया। जिसमें यह व्यवस्था की गयी कि यदि सुरक्षा परिषद विश्व शान्ति के किसी मुद्दे पर निर्णय लेने में असमर्थ रहती है तो महासभा का विशेष अधिवेशन आहूत किया जाएगा जिसके निर्णय के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ शान्ति स्थापित करने की दिशा में कार्यवाही करेगा।

विश्व लोकमत को देखते हुए ही सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों के गुट से अलग रहते हुए स्वतन्त्र विदेशनीति के संचालन हेतु 1961 में गुट निरपेक्ष आन्दोलन की नींव रखी गयी। इस आन्दोलन को शुरु करने का श्रेय भारतीय प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरु मिस्र के राष्ट्रपति नासिर तथा युगोस्लाबिया के मार्षल टीटो की तिकड़ी को दिया जाता है। इस आन्दोलन का ऊद्देश्य विश्व के नव स्वतंत्र राष्ट्रों को गुटीय राजनीति से दूर रखना तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सही का

साथ देना तथा गलत का विरोध करना और शक्ति संतुलन स्थापित करना था। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को युद्ध के खतरों से बचाया जा सके और शान्ति स्थापित की जा सके। दक्षिणी अफ्रीका के नस्लवादी सरकार का लगभग पूर्ण बहिष्कार, फिलिस्तीनी शरणार्थियों केऊद्देश्य को सार्वभौमिक समर्थन, तीसरी दुनियाँ के देशों के अधिकारों के लिए समर्थन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए महत्वपूर्ण तत्व है। वियतनाम से संयुक्त राज्य अमेरिका के सेनाओं को हटाने के पीछे भी विश्व लोकमत का दबाव ही था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में ऐसे बहुतायत उदाहरण हैं जो विश्व लोकमत के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। इसलिए कहा जाता है कि चाहे विभिन्न राजधानियों में विश्व लोकमत का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है क्योंकि सम्बन्धित लोग अपने राष्ट्र के प्रति पूर्वाग्रही होते हैं उसके अस्तित्व के प्रति इंकार करना बिलकुल ही अनुचित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व लोकमत के अस्तित्व को लेकर भले ही विवाद की स्थिति देखने को मिलती है फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि विश्व लोकमत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण तत्व बन चुका है। दुनियाँ की कोई भी बड़ी घटना और उसके सम्बन्ध में सामूहिक या व्यक्तिगत कार्यवाही विश्व लोकमत की अनदेखी कर नहीं की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, मानवधिकारों की सुरक्षा, पर्यावरण सुरक्षा आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रों की चिन्ता व कार्यवाही का प्रयास विश्व लोकमत का ही प्रभाव है

अभ्यास प्रश्न 1

1. किसी भी देशकी शासन व्यवस्था का संचालन जनता द्वारा प्रकट या मौन स्वीकृति के आधार पर ही किया जाता है। सत्य है/असत्य है

2. वर्तमान समय में विश्व के ऐसे सम्प्रभु राष्ट्रों की संख्या कितनी है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य है।

(i) 50 (ii) 105

(iii) 193 (iv) इनमें से कोई नहीं

3. द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त किस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की गयी थी।

(i) राष्ट्र संघ (ii) संयुक्त राष्ट्र संघ

(iii) सार्क (iv) इनमें से कोई नहीं

4. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई थी ?

5. गुट निरपेक्ष आन्दोलन की शुरुवात कब हुई ?

11.6 विश्व लोकमत के निर्माण में सहायक तत्व

विश्व जनमत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण का महत्वपूर्ण तत्व बन गया है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार विश्व जनमत के उदय तथा विकास के लिए निम्नलिखित कारकों को उत्तर दायी ठहराया जा सकता है-

1. विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता- अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य केवल जीना ही नहीं चाहता है बल्कि बेहतर जीवन जीना चाहता है। मनुष्य की यह भावना लोगों में साहचर्य को जन्म देती है।दुनियाँके प्रत्येक देशका नागरिक स्वतन्त्रता, शान्ति तथा समृद्धि चाहता है और जो भी ताकतें इसका उल्लंघन करती है, विश्व के लोग उसे स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार विश्व के विभिन्न देशों के नागरिकों में प्रायः मनोवैज्ञानिक विशेषताएं एक जैसी होती हैं। ये मनोवैज्ञानिक एकता दुनियाँ के लोगो के सम्बन्धों को घनिष्ठता प्रदान करती है परिणामस्वरूप जब कभी ऐसे प्रश्न या समस्याएं उत्पन्न होती है जिस पर विश्व समुदाय मनोवैज्ञानिक रूप से आबद्ध है, तो निश्चित ही वह विश्व लोकमत को प्रभावित कर सबके हित को सुरक्षित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व समुदाय के लोगो में पायी जाने वाली मनोवैज्ञानिक एकता विश्व लोकमत के निर्माण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायक तत्व है।

2. विश्व का प्राविधिक एकीकरण- सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने राष्ट्रों की भौगोलिक दूरियाँ को कम किया है। विशेषकर 1945 ई. के बाद जिस तीव्र गति से यातायात व संचार के साधनों का विकास हुआ वह उल्लेखनीय है। आजदुनियाँके किसी कोने मे घटित होने वाली घटना का पता तुरन्त विश्व समुदाय को प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं मीडिया के बढ़ते प्रभाव के कारण प्रत्येक घटना-दुर्घटना की चर्चा टी.वी. चैनलो, इन्टरनेट आदि पर होती है जिससे लोग उस पर अलग-अलग विचारों को सुनते है। तत्पष्चात् उनका वैचारिक स्तर विकसित होता है और वे उचित अनुचित का निर्णय लेने में समर्थ होते हैं। वही कभी-कभी सूचनातन्त्र का सहारा लेकर किसी घटना या दुर्घटना के बारे में गलत सूचना प्रसारित कर विश्व जनमत को नकारात्मक रूप से भी प्रभावित किया जाता है। इस सम्बन्ध में मार्गेन्थाऊ का मानना हे कि विश्व की तकनीकी एकता विश्व जनमत को वास्तविकता के निकट लायी है। जब हम कहते हैं कि यह विश्व एक है तो हमारा तात्पर्य केवल यह नहीं होता है कि संचार के साधनों के विकास के कारण विश्व समुदाय के लोगों में सम्पर्क बढ़ा है या देशों की दूरियां कम हो गयी हैं बल्कि यह भी होता है कि इस भौतिक तथा बुद्धिजीवी संचार के असीमित अवसरों ने ऐसे अनुभवी समाज को जन्म दिया है जिसमें सारी मानवता शामिल है तथा जिसमें विश्व लोकमत विकसित हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संचार में वृद्धि के कारण विश्व के लोगों मे बौद्धिक एकता की स्थापना हुई है परिणामस्वरूप विश्व लोकमत के प्रादुर्भाव, विकास तथा सुदृढ़ करने का मार्ग साफ हो गया है।

11.7 विश्व लोकमत को सीमित करने वाले तत्व

यद्यपि विश्व लोकमत वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में महŸवपूर्ण तŸव माना जाता है फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इसकी भूमिका सीमित है जिसके लिए निम्न तत्वों को उत्तरदायी माना जाता है-

1. परिस्थितियों की असमानता- विश्व समुदाय में परिस्थितियों की असमानता बहुत अधिक है। कुछ राष्ट्र तथा उनके निवासियों को जितना मिलना चाहिए उससे काफी कम मिलता है तो कुछ को जितना मिलना चाहिए उससे काफी अधिक मिलता है। दूसरे शब्दों में कुछ राष्ट्र गरीबी, आर्थिक पिछड़ेपन, भूखमरी, बीमारी, अशिक्षा, बेरोजगारी आदि से पीड़ित है तो वही दूसरी तरफ कुछ राष्ट्र षिक्षा, विकास तथा सम्पन्नता के चरमोत्कर्ष पर हैं। ऐसी स्थिति में विकसित राष्ट्र व उसके नागरिकों का दृष्टिकोण अल्पविकसित या विकासशील राष्ट्रों के प्रति सम्मानजनक नहीं है। ऐसे में यह अपेक्षा करना कि इस असमानता व अन्याय की स्थिति में स्वस्थ विश्व लोकमत का निर्माण होगा केवल कल्पना मात्र है। परिस्थितियों की असमानता को व्यक्त करते हुए मार्गेन्थाऊ ने लिखा है इस राष्ट्र के पास स्वतन्त्रता है फिर भी भूखा मरता है, उस राष्ट्र के लोगों के पास अच्छा खाने के लिए है फिर भी स्वतन्त्रता के लिए तड़पते हैं, एक अन्य राष्ट्र के पास जीवन, सुरक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दोनो है परन्तु निरंकुश सरकार के अन्तर्गत पीड़ित होता है परिणाम स्वरूप जबकि दार्शनिकता से सारे विश्व में स्तरीय समानताएं काफी है नैतिक निर्णय तथा राजनीतिक मूल्यांकनों द्वारा बहुत भिन्नताओं का पता चलता है।'' अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर किए गये किसी एक ही कार्य का एक समूह नैतिक, न्यायपूर्ण तथा वैध कह कर प्रशंसा करता है तो दूसरा समूह उसे अनैतिक, अन्यायपूर्ण तथा अवैध कह कर निन्दा करता है। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि परिस्थितियों की असमानता के कारण विश्व समुदाय के लोगों में मनोवैज्ञानिक एकता का न होना विश्व लोकमत के निर्माण की दिशा में एक बड़ी बाधा है।

2. संचार के साधनों पर सरकारी नियन्त्रण- विज्ञान और तकनीकी के विकास ने जहां विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को जोड़ने तथा विचारों के आदान-प्रदान को सरल बनाया है वही इन पर प्रायः सरकारी नियन्त्रण होने के कारण सरकारें राष्ट्रहित व राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर इनको प्रतिबन्धित करने की भी शक्तियां रखती हैं। जब कभी उनको लगता है कि किसी कार्य या व्यवहार से विश्व लोकमत उनके विरुद्ध हो सकता है तो उसके प्रचार-प्रसार को रोकने के लिए सरकारें तकनीकों का सहारा लेती है और सूचना तथा संचार के साधनों को काट देती हैं। इसके अतिरिक्त पासपोर्ट, वीजा तथा अस्थायी प्रवास की व्यवस्था भी सरकार के नियन्त्रण में होती है जिससे वे जब चाहती हैं किसी व्यक्ति या राष्ट्र के निवासियों को अपने यहाँ आने से रोक देती हैं। इन शक्तियाँ एवं साधनों का प्रयोग सरकारे मानव जाति में एकता की भावना पैदा करने तथा मित्रता, सहयोग एवं सौहार्द्र बढ़ाने के लिए कम और प्रचार तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध के लिए अधिक करती हैं। इस तरह सरकारी कृत्यों ने विचारों तथा

मूल्यों के स्वस्थ सम्प्रेषण के मार्ग में अवरोध पैदा किया है। जिससे विश्व लोकमत का विकास कठिन तथा समस्यात्मक हो गया है।

3. राष्ट्रवाद की भावना- विभिन्न राष्ट्रों के निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति भावात्मक एवं मानसिक लगाव होता है। इसलिए जब कभी राष्ट्र के लिए कोई संकट प्रतीत होता है तो लोग अपने जान की बाजी लगा देते हैं। ऐसी स्थिति में जब कभी किसी राष्ट्र के लोगो को अपना हित प्रभावित होता दिखायी देता है वे विश्व समुदाय के साथ खड़ा नहीं होते। राष्ट्रवाद चिन्तन को आत्मनिष्ठ और दृष्टि को रंगीन बना देता है। परिणाम स्वरूप लोग किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे को अपने हित या नजरिये से देखते हैं। इस प्रकार राष्ट्रवाद अवरोधक के रूप में कार्य करता है तथा विश्व जनमत के समर्थन को रोकता है। मार्गेथाऊ ने लिखा है'' जब राज्यो के हितो को प्रभावित करने वाले युद्ध का खतरा होता है या युद्ध छिड़ जाता है, तो विश्व जनमत एक संगठित शक्ति के रूप में कार्य करना बन्द कर देता है। इस तरह की परिस्थितियों के अन्तर्गत युद्ध की सार्वजनिक निन्दा (विश्व लोकमत का एक भाग) युद्ध का खतरा पैदा करने वाले या युद्ध शुरू करने वाले राष्ट्र के विरोध में बदल जाती है।'' समकालीन संदर्भ में देखने को मिलता है कि विश्व में युद्ध की वीभत्सता का विरोध करने और युद्धों को दूर करने वाले की इच्छा सर्वव्यापक है। लोग सामूहिक विनाष के आधुनिक युद्धों की समाप्ति चाहते हैं लेकिन गहराई से देखें तो ये सब दिखावटी एवं भ्रामक हैं क्यों कि देशीय हित में लोग युद्ध का विरोध नहीं करते। लोग उन युद्धों का विरोध करते है जो उनकेदेशीयदृष्टिकोण पर प्रभाव नहीं डालते है जबकि उन युद्धों से संकोच नहीं करते जो उनके देशीय हित में होते है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि अलग-अलग विषिष्ट राष्ट्रवाद लोकमत के निर्माण और विकास में बाधक है।

इस प्रकार देखने को मिलता है कि आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ लोगों को विश्व लोकमत का समर्थन करने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित तो करती है लेकिन जब किसी राष्ट्र के हित पर कोई संकट आता है उस देशके लोगों का नजरिया विश्व समुदाय से पृथक दिखायी देता है स्वस्थ्य विश्व लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि लोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों को अपने-अपने राष्ट्र हित के चष्में से देखना बन्द करें। जब तक विश्व समुदाय राष्ट्रीय हित से ऊपर उठकर मानव हित या अन्तर्राष्ट्रीय हित का नजरिया नहीं अपनायेगा विश्व लोकमत के निर्माण व विकास का मार्ग अवरूद्ध ही रहेगा।

11.8 विश्व लोकमत की भूमिका-

विश्व लोकमत के सम्बन्ध में अनेक विवादों के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति व अन्तर्राष्ट्रीय संम्बन्धों में इसकी भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह समकालीन विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय संम्बन्धो के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। यह राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के संचालन तथा राष्ट्रीय शक्ति के प्रयोग को विश्व जनमत प्रभावित करता है। विश्व जनमत के प्रतिकुल होने पर किसी राष्ट्र के

शक्ति प्रयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उसकी इच्छित भूमिका की क्षमता सीमित हो जाती है जबकि इसके विपरीत यदि विश्व लोकमत अनुकुल हो तो किसी भी राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्णय लेने व उसे लागू करने की शक्ति बढ़ जाती है। इसके बावजूद विश्व लोकमत की भूमिका आज भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण में सीमित एवं मर्यादित ही है। कई बार यह देखने को मिलता है कि विश्व लोकमत के प्रतिकुल होने पर भी किसी शक्तिशाली राष्ट्र को अपने मन माफिक कार्य करने से रोका नहीं जा सकता। उदाहरणस्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रों के मध्य शास्त्रों के निर्माण के दिशा में होड़ ही छिड़ गयी परिणामस्वरूप अमेरिका व सोवियत संघ सहित दुनियाँ के कई शक्तिशाली देश एक-दूसरे को मात देने के लिए नित-प्रतिदिन नये शस्त्रो का निर्माण करनें लगे। विश्व जनमत कभी भी शस्त्रो के निर्माण या युद्व की तैयारियों को स्वीकृति नहीं देता फिर भी इन राष्ट्रों के सितारा-युद्ध-शस्त्र व्यवस्था को रोका नहीं जा सका।

विश्व लोकमत किसी प्रकार के आतंकवाद को सहायता या समर्थन देने का भी पुरजोर विरोध करता है। इसके बावजूद दुनियाँ के कई राष्ट्र अपने छद्म राष्ट्रीय हितों को पूरा करने लिए आतंकवाद को समर्थन व सहारा दे रहे हैं। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत आतंकवाद से बुरी तरह पीड़ित है। जिसमें अब तक लाखों लोगों की जान जा चुकी है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि इस आतंकंवादी कार्यवाही के पीछे पाकिस्तान का सर्मथन है फिर भी दुनियाँ का कोई भी राष्ट्र इसके विरूद्ध कोई ठोस कार्य करने मे भारत का सहयोग नहीं करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका कई बार अपने वर्चस्व को कायम करने के लिए अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों में आतंकवादियो को अप्रत्यक्ष समर्थन दिया इसके बावजूद विश्व लोकमत आतंकवाद की सहायता या समर्थन करने वालेंदेशोंका तिरस्कार नहीं कर सका जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विद्धान यह आक्षेप लगाने लगे है कि विश्व लोकमत नाम की कोई चीज नहीं है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में इस बात का कोई उदाहरण देखने को नहीं मिलता जो विश्व लोकमत के प्रभाव में लिया गया हो। \विश्व की लगभग एक तिहाई जनसंख्या विकासशील देशों में निवास करती है जो अपने जन्म से ही आर्थिक व्यवस्था के पुननिर्माण की मॉग कर रही हैं लेकिन अभी तक इस दिशा में विकसित देशों की भूमिका बहुत सकारात्मक नहीं कही जा सकती है।

यद्यपि विश्व लोकमत की भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण में बहुत प्रभाव पूर्ण दिखाई नहीं देती हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि विश्व लोकमत नाम की कोई चीज अस्तित्व में नहीं हैं। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में विश्व लोकमत की भूमिका सक्रिय एवं दृढ़ हो रही हैं, जिसके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। यहां विश्व लोकमत की चिन्ता का एक सबब पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याएं बन गयी हैं परिणामस्वरुप इनकी सुरक्षा पर विचार-विमर्श करने के लिये रियों में 1992में ‘‘पर्यावरण सुरक्षा सम्मेलन‘‘ आयोजित किया गया जिसमें उन गैसो के उत्सर्जन को शनैःशनैः कम करने की बात कही गयी जो पर्यावरण के लिये संकट उत्पन्न कर रही हैं।

विश्व लोकमत का ही प्रभाव है कि दुनियां के विभिन्न देशों में मानवाधिकारों की सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद के प्रति लोग लामबन्द होने लगे हैं। यह कहा जा सकता है कि विश्व लोकमत इसी तरह सक्रिय रहा तो वह दिन बहुत दूर नहीं है जब अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान राष्ट्रों के द्वारा पूर्ण सहयोग व निष्ठा के आधार पर किया जाने लगेगा।

अभ्यास प्रश्न

1.विश्व समुदाय के लोगों में पायी जाने वाली मनोवैज्ञानिक एकता विश्व लोकमन्त्र के निर्माण का एक आवश्यक तत्व हैं।सत्य है

2.क्या राष्ट्रवाद की भावना विश्व लोकमत के निर्माण में बाधक है। हाँ / नहीं

3.सितारा-युद्ध-शस्त्र व्यवस्था का सम्बन्ध किससे है-

(i)शस्त्रों की निर्माण के होड़ से (ii)शस्त्रों को समाप्त करने से

(iii)किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने से(iv)इनमें से कोई नहीं

11.10 सारांश

वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में संचार के साधनों का बढ़ता प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण एवं संचालन में विश्व लोकमत की भूमिका को बढ़ा दिया है। विश्व लोकमत प्रजातान्त्रिक देशों के साथ-साथ कुलीनतन्त्र, राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र में भी अपना प्रभाव दिखाता है। समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के निर्धारण में विश्व लोकमत की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के संचालन में यह असीमित शक्ति के प्रयोग को कुछ हद तक सीमित करता है। सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व लोकमत के निर्माण में अग्रणी भूमिका अदा की है। यातायात एवं संचार के साधनो का तीव्र विकास दुनियाँ के लोगों के मध्य भौगोलिक दूरी को कम कर दिया है। अब अल्प समय मेंदुनियाँके किसी देश की यात्रा या वहा के लोगो से बातचीत सम्भव हुई हैं । जिससे विश्व समुदाय के लोगों में मनोवैज्ञानिक, सामुदायिक निकटता बढ़ी है। जो विश्व लोकमत को उर्वरा शक्ति प्रदान करती है।

यद्यपि यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि विश्व लोकमत जैसी किसी चीज का अस्तित्व है या नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ विद्वान विश्व लोकमत के अस्तित्व को नकारने का प्रयास करते है। उनका तर्क है कि दुनियाँ के शक्तिशाली राष्ट्र जब कभी आवश्यकता पड़ती है अपने राष्ट्रीय हितो को पूरा करने के लिए सम्पूर्ण विश्व समुदाय की अवहेलना करते हुए कार्यवाही करते रहते हैं। विश्व समुदाय के लोगो में देशीय हित से ऊपर उठकर कोई अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन या दृष्टि भी देखने को नहीं

मिलती है। यदि विश्व के लोगो में अन्तर्राष्ट्रीय हित या समुदाय के सम्बन्ध में कोई मत पाया भी जाता हैं तो वह प्रायः प्रभावहीन होता है अर्थात किसी राष्ट्र के निर्णय को प्रभावित करने में वह प्रभावकारी सिद्ध नहीं होता है। आर्थिक, राजनीतिक व सैनिक मामलों के द्वारा लिया जाने वाला निर्णय प्रायः राष्ट्रीयता या देशीय हित से प्रभावित होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानो का एक समुह यह मानता हैं कि विश्व लोकमत का अस्तित्व पाया जाता है। यह दुनियां के देशों के निर्णयों को प्रभावित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इनका तर्क है कि विश्व शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो का निर्माण विश्व लोकमत का प्रबल प्रमाण है। प्रथम विश्व युद्ध के समाप्ति के बाद राष्ट्र संघ का निर्माण, द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण, समय-समय पर शान्ति व सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन में परिवर्तन विश्व लोकमत के अस्तित्व का ही परिचायक है। विश्व लोकमत का अस्तित्व समकालीन विश्व में राष्ट्रों और उनके निवासियों को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ यथा पर्यावरण, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद, मानवाधिकारों की सुरक्षा आदि के समबन्ध में कार्य करने लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित कर रहा है। परिणामस्वरूप दुनियाँ के विभिन्न देशों द्वारा पर्यावरण सुरक्षा सम्मेलन, आर्थिक विकास से सम्बन्धित सम्मेलन तथा आतंकवाद सरीखे समस्याओं की अन्तर्राष्ट्रीय मंचो पर चर्चा की जाने लगी हैं।

11.**11 शब्दावली**

लोकतंत्र	-जनता का शासन
राजतंत्र	-वंश परम्परा पर आधारित शासन व्यवस्था
कुलीनतंत्र	-समाज के उच्च वर्ग की शासन व्यवस्था
निःशस्त्रीकरण	-शस्त्रों को समाप्त करना
पंचनिर्णय	-मध्यस्थता के आधार पर लिया गया निर्णय
लोकमत	-जनता का विचार
अन्तर्राष्ट्रीय	-विश्व के कई राष्ट्रों से सम्बधित
नस्लवाद	-नस्ल के आधार पर भेदभाव
संन्धि	-दो-दो या दो अधिक लोगो के बीच औपचारिक समझौता
गुटनिरपेक्ष	-गुटो की राजनीति से अलग रहना
सार्वभौमिक	-सभी जगहों पर समान रूप से स्वीवार्य
पूर्वाग्रह	-पूर्व कल्पित विचार

मनोविज्ञान - मन से सम्बधित

11.12 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1.सत्य है, 2.(iii) 193, 3.(ii) संयुक्त राष्ट्र संघ ,4. 17 अक्टुबर 1945,5. 1961 ई.

अभ्यास प्रश्न 2

1.सत्य है, 2.हां, 3. (i) शस्त्रो के निर्माण की होड़ से ,

11.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.एस.सी सिघल, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2013-14।

2.डॉ. प्रभुदत्त शर्मा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (सिद्वान्त एवं व्यवहार) कालेज बुक डिपो, जयपुर एवं नई दिल्ली।

3. यू. आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति:सिद्वान्त एवं व्यवहार, अकेडेमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालंधर 2001-2।

4.डॉ.बी.एल.फाडिया, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन,आगरा,2015।

11.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.विश्व लोकमत को परिभाषित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में इसकी भूमिका का विस्तृत वर्णन कीजिए 2. विश्व लोकमत क्या है ? राष्ट्रीय शक्ति पर एक सीमा के रूप मे इसकी भूमिका का उल्लेख कीजिए।

3.विश्व लोकमत के अर्थ एवं स्वरुप की चर्चा करें। क्या आप इस विचार से सहमत है कि विश्व लोकमत नाम की कोई चीज नहीं है ?

4.विश्व लोकमत क्या है? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में इसके तत्वो तथा भूमिका का विश्लेषण करें।